एकोनविंशोऽध्यायः

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुरा-सोम 'स्वाद्वी-तीव्रा-अमृता मधुमती'

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृतामममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳसोमेन।
सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥१॥

१. प्रभु कहते हैं कि **स्वाद्वीम्**=स्वादयुक्त वाणीवाली **त्वा**=तुझ 'सुरा' को **स्वादुना**=स्वादयुक्त वाणीवाले 'सोम' के साथ **संसृजामि**=उत्तमता से युक्त करता हूँ। **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** (तै० १।३।३।४), अर्थात् पुरुष सोम हैं, स्त्री सुरा। पुरुष ने **सू**=विविध वस्तुओं के उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य कमाना है और स्त्री ने (सुर to govern, to rule, to shine) घर में व्यवस्था करनी है और अपनी उत्तम व्यवस्था से उसे चमकाना है। स्वाद्वीं सुरा को मैं स्वादु सोम के साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मधुर वाणीवाली पत्नी को मधुर वाणीवाले पति से संयुक्त करता हूँ। पत्नी पति के प्रति मधुर वाणी बोले और पति पत्नी के लिए। उत्तम सन्तान के निर्माण में मधुरवाणी अत्यन्त महत्त्व रखती हैं। यह पति-पत्नी में सामञ्जस्य व सौमनस्य पैदा करके सर्वाङ्ग सुन्दर सन्तान को जन्म देती है। २. **तीव्रां तीव्रेण**=(तीव् to be strong) सशक्त शरीरवाली सबला तुझे सशक्त शरीरवाले सबल पुरुष के साथ संयुक्त करता हूँ। पति-पत्नी अशक्त होंगे तो सन्तान भी मरियल-सी ही होगी। ३. **अमृताम्**=रोगरूप मृत्युओं से रहित तुझको **अमृतेन**=नीरोग पति से संयुक्त करता हूँ। माता-पिता का रोग सन्तानों में भी जाकर राष्ट्र में रोगियों की संख्या को बढ़ाएगा। स्मृतिकारों ने इसी से विशिष्ट बीमारियों में विवाह का निषेध कर दिया है। ४. **मधुमतीम्**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त व्यवहारवाली तुझे **मधुमता**=माधुर्ययुक्त पति से संयुक्त करता हूँ। उस पति से संयुक्त करता हूँ जो **सोमेन**=शरीरबद्ध 'सोम' है (सोम=वीर्यशक्ति)। इस सोम से ही तो उत्तम सन्तान को जन्म मिलता है। ५. ये पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि **सोमः असि**=तू सोम है, तू ही हमारा जन्म देनेवाला है। तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो। तेरे ठीक परिपाक से हमारी प्राणापान की शक्ति वृद्धि को प्राप्त हो। ६. **सरस्वत्यै पच्यस्व**=तू विद्या की अधिदेवता सरस्वती के लिए परिपक्व हो। सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता है। सोम की रक्षा से, उसके शरीर में ठीक परिपाक से यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञान चमक उठता है। ७. हे सोम! तू **सुत्राम्णे**=उत्तम रक्षण करनेवाले **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो, अर्थात् शरीर में तेरे सुरक्षित होने से हम अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके बुद्धि को अतिसूक्ष्म बनाकर प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। ऐसे पति-पत्नी ही उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले होते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बनते हैं। ८. याज्ञिकों ने प्रस्तुत मन्त्र में 'सुरा' का संकेत देखा, परन्तु शराब को **'अनृतं पाप्मा तमः सुरा'** श० ५।१।२।१० झूठ, पाप व अज्ञान के रूप में देखनेवाली वैदिक संस्कृति शराब का ऐसा वर्णन नहीं मान सकती।

भावार्थ—पति-पत्नी (क) मधुरवाणीवाले (ख) शक्तिशाली (ग) नीरोग व (घ)

मधुर व्यवहारवाले हों। (ङ) सोम की रक्षा करनेवाले व उसका शरीर में ठीक परिपाक करनेवाले हों, जिससे उनकी प्राणापान शक्ति बनी रहे, वे उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले और अन्त में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा प्रभु का दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम का रक्षण

परीतो षिञ्चता सुतꣳसोमो यऽउत्तमꣳहविः।
द्धन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का शरीर में रक्षण व परिपाक करते हुए ये पति-पत्नी 'भारद्वाज'=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाले होते हैं। यह भारद्वाज प्रभु की इस प्रेरणा को सुनता है कि **परीतः**=(परि इतः) यह सोम सर्वतः प्राप्त हो। इसका अपव्यय न होकर यह शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में ही व्याप्त हो जाए। २. **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **षिञ्चत**=शरीर में ही सिक्त करो। ३. **यः सोमः**=यह सोम **उत्तमं हविः**=सर्वोत्तम ग्रहण करने योग्य पदार्थ है। इसी ने (क) हमारे जीवन को सशक्त व दीर्घ बनाना है, (ख) बुद्धि को सूक्ष्म करना है, (ग) हमें परमात्मा-दर्शन के योग्य बनाना है। ४. **दधन्वान्**=यह हमारा धारण करता है। हमारा जीवन इसी के धारण पर निर्भर है **'जीवनं बिन्दुधारणात्'**। ५. यह सोम वह है **यः**=जो **नर्यः**=मनुष्यों का हित करनेवाला है। यह उन्हें सब आधि-व्याधियों से सुरक्षित करता है। ६. **सोमम्**=इस सोम को यह 'भारद्वाज' **अद्रिभिः**=प्रभु के पूजन (adoring) के द्वारा **अप्स्वन्तरा**=सदा कर्मों में स्थित हुआ-हुआ **सुषाव**=अभिषुत करता है। सोम का शरीर में उत्पादन व रक्षण वही व्यक्ति कर पाता है, जो प्रभु-उपासन करता है और अपने को कर्मों में व्यापृत रखता है। प्रभु-उपासन से दूर होने पर और अकर्मण्य हो जाने पर हम वासनाओं के शिकार होने लगते हैं तब सोम के रक्षण का प्रश्न ही नहीं उठता।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु का पूजन व कर्मों में व्याप्ति आवश्यश्क है। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्मरत पुरुष सोम को वासनाओं से विनष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्रस्य युज्यः सखा=सदा साथ रहनेवाला मित्र

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा।
वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **सोमः**=सोम **वायोः**=वायु के द्वारा **पूतः**=पवित्र होता है, अर्थात् प्राणापान की साधना से इस सोम में वासनाओं से उत्पन्न होनेवाली अपवित्रता नहीं आती। २. **पवित्रेण**=**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** इस वाक्य के अनुसार जीवन को पवित्र करनेवाले ज्ञान से **सोमः**=यह सोम **प्रत्यङ्**=(प्रति अञ्चति) वापस शरीर में गतिवाला होकर **अतिद्रुतः**=अतिशयेन गमनवाला होता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाले पुरुष के जीवन को यह सोम अतिशयेन गतिवाला बना देता है। सोमरक्षा के अभाव में अशक्त होकर मनुष्य निश्चेष्ट-सा बन जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में लगने पर यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, अतः शरीर में ही इसका व्यापन होता है और शरीर की न्यूनताओं का दूरीकरण होकर यह शरीर-यन्त्र नये-का-नया-सा बना रहता है, इसकी गति में कमी नहीं

आती। ३. ऐसा होने पर सोम का रक्षक यह पुरुष **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है। मानव-जीवन के उत्कर्ष की यह चरमसीमा है कि 'हम प्रभु के मित्र हों'। ४. फिर इस सारी भावना को आवृत्त करते हुए कहते हैं कि **वायोः**=यह प्राणापान से पवित्र होता है। प्राणायाम के द्वारा इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर यह शरीर के अन्दर स्थिर रहता है। **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा **सोमः**=यह सोम **प्राङ्**=(प्राञ्चति ऊर्ध्वं गच्छति—म०) ऊर्ध्वगतिवाला होता है और इस ऊर्ध्वगति के कारण इस सोम का रक्षक **अतिद्रुतः**=अतिशयेन शीघ्रता से कार्यों में व्यापनेवाला होता है। और **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र होता है। ४. उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का मित्र बनकर यह भी 'आभूति' सर्वत्र ऐश्वर्यवाला होता है। इसके अन्नमयादि पाँचों कोश 'तेज, वीर्य, बल व ओज, ज्ञान (मन्यु) व सहस्' से परिपूर्ण होते हैं। इसके पाँचों कोश उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण होते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा सोम शरीर में ही गमनवाला होकर ऊर्ध्व गमनवाला होता है। ज्ञानाग्नि के दीपन में इसका व्यय होता है। इसके रक्षण से मनुष्य खूब क्रियामय जीवनवाला होता है और सदा प्रभु का मित्र बनता है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्यदुहिता—'श्रद्धा'

पुनाति ते परिस्रुतꣳसोमꣳसूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥४॥

१. प्रभु 'आभूति' से कहते हैं कि **ते**=तेरे **परिस्रुतम्**=शरीर में सर्वतः प्राप्त इस **सोमम्**=सोम को **सूर्यस्य दुहिता**=**'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता'** ज्ञान की पुत्री के समान यह श्रद्धा **पुनाति**=पवित्र कर देती है। यह श्रद्धा हमारे सोम को पवित्र करती है। श्रद्धा वस्तुतः हममें सत्य का धारण कराती है (श्रत् सत्यं दधाति) और यह सत्य सोम को पवित्र बनानेवाला होता है। २. यह श्रद्धा **वारेण**=असत्य व वासनाओं के निवारण से सोम को पवित्र करती है। वासनाएँ ही सोम की अपवित्रता का कारण बनती हैं। ३. यह श्रद्धा **शश्वता**=(शश प्लुतगतौ) द्रुत गतिवाले जीवन से सोम को पवित्र रखती है। श्रद्धावान् पुरुष प्रभु में विश्वास करके सदा उत्तम क्रिया में लगा रहता है। बस, यही उत्तम क्रिया सोमरक्षण का साधन बनती है। ४. यह श्रद्धा **तना**=(तन् विस्तारे) शरीर की शक्तियों के विस्तार द्वारा सोम की सुरक्षा व पवित्रता करती है। शरीर की शक्तियों के विस्तार में व्याप्त हुआ-हुआ सोम पवित्र बना रहता है। ५. वस्तुतः सोमरक्षा के लिए आवश्यक है कि हम (क) वासनाओं का निवारण करें, (ख) सदा उत्तम कर्मों में स्फूर्ति से लगे रहें और (ग) शक्तियों के विस्तार की श्रद्धावाले हों, अर्थात् शक्तियों के विस्तार के लिए हममें प्रबल भावना हो।

भावार्थ—श्रद्धा सोम को पवित्र करती है, क्योंकि यह वासनाओं का निवारण करती है, हमें स्फूर्ति-सम्पन्न व कर्मठ बनाती है तथा शक्तियों के विस्तार के लिए प्रेरित करती है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ब्रह्म+क्षत्र—तेज व इन्द्रिय

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेजऽइन्द्रियꣳसुरया सोमः सुतऽआसुतो मदाय।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि॥५॥

१. **सुतः**=उत्पन्न हुआ **सोमः**=यह सोम **सुरया**=(सुरा to govern, to rule) शासन के द्वारा, अर्थात् शरीर में ही नियन्त्रित होकर **ब्रह्म**=ज्ञान को, **क्षत्रम्**=बल को, **तेजः**=तेजस्विता को **इन्द्रियम्**=मन आदि इन्द्र के साधनों को **पवते**=(जनयति) प्रादुर्भूत करता है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है, बल की वृद्धि होती है, यह हमारी तेजस्विता का कारण होता है और हमारी मानसशक्तियों का वर्धन करनेवाला होता है। २. **आसुतः**=शरीर में ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सम्पादित हुआ-हुआ यह सोम **मदाय**=जीवन में हर्ष व प्रफुल्लता के लिए होता है। ३. हे **देव**=सब सुखों के देनेवाले प्रभो! आप **शुक्रेण**=इस शुद्ध, शक्तिप्रद वीर्य से **देवताः**=दिव्य गुणों को **पिपृग्धि**=हममें पूरित कीजिए। वीर्यरक्षा से हमारा हृदय-मन्दिर दिव्य भावनाओं का निवास-स्थान बनता है, दूसरे शब्दों में यह देव-मन्दिर बन जाता है। ४. हे प्रभो! आप **यजमानाय**=यज्ञशील मेरे लिए **रसेन**=गोरस (दुग्ध), अथवा ओषधिरसों के साथ **अन्नम्**=अन्न को **धेहि**=धारण कीजिए। इस दूध व ओषधिरस और अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम सचमुच हमारे लिए 'ज्ञान, बल, तेज व इन्द्रियों के सामर्थ्य तथा हर्ष व उल्लास' को देनेवाला हो और हमारे हृदय को दिव्य भावनाओं से युक्त करके उसे देव-मन्दिर बना दे।

भावार्थ—हम रस व अन्न का सेवन करें। उससे उत्पन्न सोम हमारे ज्ञान, बल व तेज को बढ़ाएगा, हमारी इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करेगा, उल्लास का कारण बनेगा और हमें दिव्य गुणयुक्त जीवनवाला बनाएगा, अतः हम सोम को शरीर में ही नियन्त्रित करें (सुरया)।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्प्रकृतिः**। स्वरः—**धैवतः**॥

तेज—वीर्य व बल

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णेऽएष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा॥६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शरीर में सोम के संरक्षण के लिए सात्त्विक व सौम्य भोजन सर्वाधिक अपेक्षित है, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **कुविदङ्ग**=हे प्रचुर शक्तियुक्त, सम्पूर्ण गति देनेवाले प्रभो! **यवमन्तः**=जौ के खेतवाले **यथा**=जैसे **यवं चिद्यत्**=जौ को निश्चय से **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'आभूति' भी एक-एक कोश को अलग करके पृथक् करते चलते हैं और उससे ऊपर उठते जाते हैं। २. हे प्रभो! **ये**=जो **बर्हिषः**=वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले **नमऽउक्तिम्**=आपके प्रति नमस्कार के कथन को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं **एषाम्**=इनके **इह-इह**=उस-उस योग की भूमिका में स्थित हुओं के **भोजनानि**=पालनों को अथवा उत्तम सात्त्विक भोजनों को **कृणुहि**=आप कीजिए। इन जौ आदि सात्त्विक भोजनों से ही ये शक्ति को प्राप्त करेंगे और वासनाओं का उद्बर्हण कर पाएँगे। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। ४. **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की शक्ति की प्राप्ति के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। **सरस्वत्यै**=ज्ञान अधिदेवता के लिए, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानी बनने के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ। **इन्द्राय त्वा**=आत्मशक्ति के विकास के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ, **सुत्राम्णे**=जिससे मैं अपना उत्तम त्राण कर सकूँगा। ४. **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा निवास-स्थान बनता हूँ, अर्थात् अपने हृदय में आपको स्थापित करता हूँ। **तेजसे त्वा**=

तेजस्विता की प्राप्ति के लिए आपको अपने में स्थापित करता हूँ। मेरा यह अन्नमयकोश अन्तर्निहित आपके द्वारा तेजस्वी बनाया जाता है। **वीर्याय त्वा**=वीर्य-सम्पन्न होने के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। आपके द्वारा मेरा प्राणमयकोश उस वीर्यशक्तिवाला होता है जो शक्ति मुझे रोगों से आक्रान्त नहीं होने देती। **बलाय त्वा**=मानस बल की प्राप्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। प्रभु के हृदयस्थ होने पर यह प्रभुभक्त अद्भुत मानस बल का लाभ करता है और उसके द्वारा सचमुच अपने कार्यों में सफल होता हुआ प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—हम यव आदि सात्त्विक भोजनों से पवित्र विचारोंवाले होकर प्रभु का उपासन करें। वे प्रभु 'कुविदङ्ग' हैं, शक्तिशाली गति देनेवाले हैं। प्रभु के सम्पर्क से मैं भी तेज, वीर्य व बल को प्राप्त करता हूँ।

सूचना—'कुवित् इति बल नाम'। कुवित् बल वाचक है, सम्भवतः यही शब्द विकृत होकर कूअत बना है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पति-पत्नी का स्थान

नाना॒ हि वां॑ दे॒वहि॑त॒ꣳसदꣳस्कृ॒तं मा सꣳसृ॑क्षाथां पर॒मे व्यो॑मन्।
सुरा॒ त्वमसि॑ शु॒ष्मिणी॒ सोम॑ऽए॒ष मा मा॑ हिꣳसीः स्वाँ योनि॑मावि॒शन्ती॑॥७॥

१. उत्तम जीवन बिताने का उपदेश देते हुए प्रभु कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों का **देवहितम्**=(देवविहितम्) मुझ प्रभु से विहित, अर्थात् निर्दिष्ट **नाना**=अलग-अलग **सदः**=स्थान **कृतम्**=किया गया है। पति ने घर के बाहर श्रम के द्वारा परिवार के पालन के लिए धन कमाना है और पत्नी ने घर में स्थित होकर (पत्नीशालं गार्हपत्यः १९।१८) गृह-सम्बन्धी सब कार्यों को सुचारु-रूपेण करना है। अर्जित धन का संग्रह व उचित व्यय पत्नी का कार्य है। २. इस प्रकार अपने-अपने कार्यों को करते हुए **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **मा सं सृक्षाथाम्**=मेरे साथ सम्यक् सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करो। इस प्रभु-सम्पर्क से ही वह शक्ति प्राप्त होनी है, जिससे वे अपने सब कार्यों को सफलता के साथ करनेवाले होंगे। ३. हे पत्नी! **त्वम्**=तू **सुरा**=(सुर to govern, to rule) इस घर का शासन करनेवाली साम्राज्ञी **असि**=है। (सुर to shine) तूने अपनी उत्तम व्यवस्था से इस घर को दीप्त करना है। **शुष्मिणी**=तू शत्रुओं के शोषक बलवाली है। ४. **एषः**=यह तेरा पति भी **सोमः**=शक्ति का पुञ्ज व अत्यन्त विनीत है। ५. तू **स्वां योनिम्**=अपने घर में जिस घर का तूने निर्माण करना है **आविशन्ती**=प्रविष्ट होती हुई **मा**=मुझे **मा हिंसीः**=मत हिंसित करना, अर्थात् प्रभु-उपासन को कभी समाप्त न कर देना। यह उपासना ही तुझे वह शक्ति देगी, जिससे तू घर का उत्तमता से सञ्चालन कर पाएगी।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने-अपने कार्यक्षेत्र का ग्रहण करके प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने कार्यों को करेंगे तो घर सचमुच 'आभूति' का घर बनेगा, जो सब दृष्टिकोणों से फूला-फला है (आ-भूति)। वहाँ स्वास्थ्य होगा, सुसन्तान होगी, सम्पत्ति होगी और इन सबसे बढ़कर वहाँ 'सत्य' होगा।

सूचना—यहाँ पत्नी के लिए तीन बातें कही हैं, पति के लिए एक। एवं, पत्नी का उत्तरदायित्व कम-से-कम तिगुना तो है ही।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

मोद-आनन्द-महस्

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।
एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा॥८॥

१. आभूति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना के द्वारा यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। आपको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो उपासनारत होता है। २. उस उपासक को **आश्विनं तेजः**=प्राणापान-सम्बन्धी तेजस्विता प्राप्त होती है और यह तेजस्विता ही उसे उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन देनेवाली बनती है। ३. उपासना से ही **सारस्वतं वीर्यम्**=ज्ञान की अधिदेवता के साथ सम्बद्ध वीर्य इसे प्राप्त होता है। उपासक को ज्ञान की वह शक्ति प्राप्त होती है जो उसके सब कर्मों को पवित्र करनेवाली होती है। ४. **ऐन्द्रं बलम्**=उपासना से ही अध्यात्म बल प्राप्त होता है। एवं, यह उपासक शरीर से स्वस्थ, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त तथा हृदय में आत्मिक शक्तिसम्पन्न व पवित्र बनता है। ५. **एषः**=यह शरीर, बुद्धि व मन के ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला 'आभूति' नामवाला मैं **ते योनिः**=हे प्रभो! आपका निवास-स्थान बनता हूँ। आपको अपने हृदयदेश में बिठाता हूँ। **मोदाय त्वा**=इसलिए आपको हृदयदेश में बिठाता हूँ कि सांसारिक वस्तुओं का उचित उपयोग करते हुए 'मोद' व हर्ष का लाभ कर सकूँ, ये सांसारिक वस्तुएँ अत्युपयुक्त होकर मेरे जीवन को अस्वस्थ व कटु न बना दें। **आनन्दाय त्वा**=मैं आपको इसलिए हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ कि प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर मैं वास्तविक आनन्द का लाभ करनेवाला बनूँ। इन भोग्य पदार्थों के समुचित उपयोग ने स्वस्थ बनाकर मुझे सुखी किया था। इनमें अनासक्ति मेरे निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाली होगी और **महसे त्वा**=आपके सम्पर्क से तेजस्वी बनने के लिए मैं आपका निवास बनने का प्रयत्न करता हूँ। आपके सम्पर्क से शक्तिसम्पन्न बनकर ही तो मैं सब शत्रुओं पर विजय पानेवाला बन पाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु-उपासन हमारे जीवन में 'मोद, आनन्द व महस्' को भरनेवाला होता है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

आ-भूति

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥९॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु के उपासन से 'महस्' की प्राप्ति होती है' ऐसा कहा था। उसी का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—**तेजः असि**=हे प्रभो! आप तेज के पुञ्ज हैं, मूर्त्तिमान् तेज हैं। **मयि**=मुझमें **तेजः**=तेज का **धेहि**=आधान कीजिए। मेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। अपने इस तेज से मैं अपनी रक्षा करने में समर्थ होऊँ। २. **वीर्यम् असि**=हे प्रभो! आप वीर्य हैं। वीर्य के पुञ्ज हैं। **मयि वीर्यं धेहि**=मुझमें वीर्य का आधान करें। मेरा प्राणमयकोश वीर्यवान् होकर सम्भावित रोगों को कम्पित करके दूर करनेवाला हो। **वि**=विशेष रूप से यह **ईर्**=रोगों को कम्पित करे। शरीर में इस वीर्य के स्थापन से मैं रोगों का शिकार न होऊँ। ३. **बलम् असि**=हे प्रभो! आप बल हैं। **बलं मयि धेहि**=मुझमें बल स्थापन कीजिए। मेरा मनोमयकोश बल-सम्पन्न हो। यह बलसम्पन्न मन मुझे इन्द्रियों के दमन में समर्थ करे और मैं अपनी जीवन-यात्रा को, विघ्नों को दूर करता हुआ, पूर्ण करनेवाला बनूँ। ४. **ओजः**

असि=हे प्रभो। आप ओज हैं। **मयि ओजः धेहि**=मुझमें ओज का आधान करें। मेरा मन ओजस्वी हो और यह सब प्रकार से मेरी उन्नति का कारण बने। मेरे मन का बल सब विघ्नों व शत्रुओं को दूर करता है तथा यह मानस-ओज मेरी उन्नति व वृद्धि का कारण होता है। ५. **मन्युः असि**=(मन्=अवबोध) हे प्रभो! आप निरतिशय ज्ञान हैं, ज्ञानधन हैं। **मन्युं मयि धेहि**=मेरे विज्ञानमयकोश में भी इस ज्ञान-धन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं अपने जीवन को पवित्र करनेवाला बनूँ। और अन्त में ६. **सहः असि**=हे प्रभो! आप 'सहस्' है, सहनशक्ति के पुञ्ज हैं। हम आपकी आज्ञाओं की कितनी अवहेलना करते हैं, परन्तु आप किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए सदा हमारे कल्याण में प्रवृत्त रहते हैं। **मयि**=मुझमें भी **सहः धेहि**=सहनशक्ति का आधान कीजिए। मैं अपने आनन्दमयकोश को आनन्द से परिपूर्ण करनेवाला बनूँ और सचमुच आनन्द का लाभ कर सकूँ। ७. इस प्रकार हे प्रभो! आपकी कृपा से अपने सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करके मैं सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'आभूति' बनूँ, सर्वत्र ऐश्वर्यवाला।

भावार्थ—मेरा अन्नमयकोश तेजस्वी हो, प्राणमयकोश वीर्यवान् हो। मनोमयकोश में मैं बल व ओज को धारण करूँ। मेरा विज्ञानमयकोश मन्यु=ज्ञान से परिपूर्ण हो, और सहस् को अपनाकर मैं आनन्दमयकोशवाला बनूँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

स-बलता

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति।
श्येनं पतत्रिणꣳसिꣳहꣳसेमं पात्वꣳहसः॥१०॥

१. गत मन्त्र में एक-एक कोश की शक्ति के धारण का उल्लेख था। यह शक्ति ही आभूति को हैम=स्वर्ग के समान देदीप्यमान वर्चस्=दीप्तिवाला बनाती है और इसका नाम 'हैमवर्चिः' हो जाता है। यह हैमवर्चि प्रार्थना करता है कि **या**=जो **विषूचिका**=(वि-सु-अञ्च) विविध उत्तम गतियों की कारणभूत शक्ति **व्याघ्रम्**=व्याघ्र **च वृकम्**=और भेड़िया **उभौ**=दोनों को **रक्षति**=सुरक्षित करती है। इन दोनों को ही क्या, **पतत्रिणम्**=आकाश में उड़नेवाले **श्येनम्**=बाज़ को तथा **सिंहम्**=शेर को जो शक्ति सुरक्षित करती है **सा**=वही शक्ति **इमम्**=इस हैमवर्चि को **अंहसः**=पापों से व पापजनित पीड़ाओं से **पातु**=रक्षित करे। २. इस संसार का यह एक जीवित-जागरित तथ्य है कि रक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता है। ज्ञान व भलमनसाहत का भी अपना स्थान है, परन्तु वे शक्ति का स्थान नहीं ले-सकते। रक्षा के लिए शक्ति ही काम आती है। संसार में दुर्बल बलवान् से मारा जाता है, छोटी मछली बड़ी मछली से निगली जाती है। चूहा बिल्ली से मारा जाता है, बिल्ली कुत्ते से, कुत्ता वृक से, वृक व्याघ्र से और व्याघ्र सिंह से। गौ की भलमनसाहत उसे शेर के आक्रमण से नहीं बचाती। एवं, जहाँ ज्ञान व भद्रता का सम्पादन आवश्यक है वहाँ शक्ति का सम्पादन उनसे कहीं अधिक आवश्यक है। **'वीरभोग्या वसुन्धरा'** इस उक्ति में यही तथ्य निहित है। ३. 'अंहसः पातु' इन शब्दों से यह भी व्यक्त है कि पाप से भी हमें शक्ति ही बचाती है। निर्बलता व अवीरता के साथ सब बुराइयों (evils) का निवास है। Virtue तो वीरत्व में ही है। निर्बल व्यक्ति जल्दी खिझ उठता है, सबल सहनशील होता है, इसलिए शक्ति का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है, यह शक्ति ही हमें प्रभु को भी प्राप्त करानेवाली होगी **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**।

भावार्थ—हम शक्ति-सम्पादन करके अपने को पापों व कष्टों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अनृणता

यदाप्पिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्नेऽअनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया। सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त॥११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शक्तिशाली बनकर उत्तम जीवनवाले माता-पिता उत्तम सन्तान को ही जन्म देते हैं। उस समय वे कहते हैं कि **यदा**=जब **प्रमुदितः**=प्रकृष्ट प्रसन्नतावाला, अर्थात् स्वास्थ्य के कारण सदा हँसता हुआ **पुत्रः**=बालक **धयन्**=स्तन्यपान करता हुआ, मातृ-दुग्ध को पीता हुआ **मातरं पिपेष**=माता के वक्षःस्थल को दबाता है तो **अग्ने**=हे प्रभो! **एतत् तत्**=तब यह मैं **अनृणः भवामि**=पितृऋण से अनृण होता हूँ। चूँकि **मया**=मैंने **पितरौ**=माता-पिता को **अहतौ**=नष्ट नहीं होने दिया। अब वे सन्तान के रूप में अमर ही बने रहेंगे। **प्रजाभिः अग्ने अमृतत्वमश्याम**=प्रजाओं से हम हे प्रभो! अमृतत्व को प्राप्त करें, यही तो उनकी प्रार्थना थी। अब ये मेरे माता-पिता अपने वंश को नष्ट होता हुआ न समझेंगे। २. यह उत्तम सन्तान चाहता है कि हे पितरो! आप **संपृच स्थ**=अपने को उत्तम गुणों से संपृक्त करनेवाले हो, इस प्रकार **मा**=मुझे भी **भद्रेण**=भद्र गुणों से **संपृक्त**=सम्यक् युक्त करो। **विपृच स्थ**=आप दुरितों से अपने को पृथक् करनेवाले हो, **मा**=मुझे भी **पाप्मना पृङ्क्त**=पाप से पृथक् कीजिए। आपके गुणावगुण ही तो पैतृक सम्पत्ति के रूप में मुझे प्राप्त होने हैं। आपके गुण मुझे गुणी बनाएँगे, आपके अवगुण मुझे अवगुणी करेंगे, अतः आपके लिए अपने जीवन को गुणों से युक्त व अवगुण से वियुक्त करना अत्यन्त आवश्यक है। ३. केवल सन्तान का उत्पादन ही हमें पितृऋण से मुक्त नहीं कर देता, सन्तान का उत्तम बनाना भी आवश्यक है, उत्तम सन्तान ही तरानेवाली होती है।

भावार्थ—हम शक्तिसम्पन्न बनकर स्वस्थ, प्रमुदित सन्तान को जन्म दें। उन सन्तानों को सद्गुणों से संपृक्त करें तथा विगुणों से विपृक्त करके पितृऋण से अनृण हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नीरोगता-पवित्रता, आश्विनौ-सरस्वती

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः॥१२॥

१. गतमन्त्र में अपने को भद्र से संपृक्त करने व पाप से विपृक्त करने का उल्लेख है। ऐसा करनेवाले ही 'देव' कहलाते हैं। ये **देवाः**=देवपुरुष, दिव्य वृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं। २. इस प्रकार जब ये उत्तम कर्मों का विस्तार करते हैं तब **अश्विनौ**=ये प्राणापान **भिषजौ**=जो देवों के वैद्य हैं, दिव्य वृत्तिवाले लोगों को बीमार न होने देनेवाले हैं, वे **भेषजम्**=औषध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। ये प्राणापान उनकी सब व्याधियों के प्रतीकारक बनते हैं, इनके शरीर को वे पूर्णतया स्वस्थ करते हैं तथा ३. **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता भी **वाचा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **भिषक्**=इनकी मानस आधियों को दूर करनेवाली होती है। ज्ञान से इनका जीवन पवित्र हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि प्राणापान से इनका शरीर नीरोग बना था। ४. वस्तुतः ये प्राणापान (अश्विनौ) तथा ज्ञान

(सरस्वती) **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों की शक्तियों को **दधतः**=धारण करते हैं। इन्हें आधि-व्याधियों से बचाकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सबल बनाते हैं।

भावार्थ—हम सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहकर प्राणापान की शक्ति से नीरोग बनें तथा ज्ञान के द्वारा पवित्र बनें। यह नीरोगता व पवित्रता हमें सर्वाङ्ग सम्पूर्ण जीवनवाला बनाए। हमारे सब अङ्ग पुष्ट हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञात्मक जीवन

दीक्षायै रूपꣳशष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि।
क्रयस्य रूपꣳसोमस्य लाजाः सोमाꣳशवो मधु॥१३॥

१. पिछले मन्त्र में देवों द्वारा यज्ञ-विस्तार का संकेत था। उसी यज्ञ को जीवन में लाने के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **दीक्षायै**=(दीक्षायाः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) व्रत ग्रहण का **रूपम्**=(sign, feature) निरूपक चिह्न **शष्पाणि**=नये उत्पन्न हुए-हुए व्रीहि हैं, अर्थात् एक व्यक्ति जब यज्ञ का व्रत लेता है तब वह शष्पभोजन का संकल्प करता है। २. **प्रायणीयस्य**=(प्र+अयन) प्रकृष्ट जीवन बिताने के निश्चय का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **तोक्मानि**=नव प्ररूढ़ यव हैं, नये जौ हैं। ये जौ अत्यन्त सात्त्विक भोजन होने से हमारे अन्तःकरण को सात्त्विक बनाते हैं और उससे हमारा जीवन-मार्ग उत्तम होता है। ३. **सोमस्य क्रयस्य**=सोम के क्रय का, अर्थात् उत्तम भोजनों से उत्पन्न होनेवाले शरीर में स्थिरता से रहनेवाले सोम की प्राप्ति का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **लाजाः**=धान के बने खील **सोमांशकः**=सोमलता के अंशु तथा **मधु**=शहद हैं। जब एक व्यक्ति यह निश्चय कर लेता है कि मैंने उस सोम को प्राप्त करना है, जो मेरे शरीर में स्थिर रहे तो वह आग्नेय भोजनों को छोड़कर सौम्य भोजनों का ही स्वीकार करता है। इन सौम्य भोजनों के उदाहरण रूप से यहाँ लाजा, सोमांशु व मधु का उल्लेख हुआ है। ये प्रमुख सौम्य भोजन हैं। ये भोजन हमें सब प्रकार के प्रमेहों से बचाकर शक्तिसम्पन्न जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—दीक्षित व्यक्ति शष्पभोजन का व्रत लेता है, प्रकृष्ट जीवन बितानेवाला नव प्ररूढ़ यवों के प्रयोग का निश्चय करता है और सोम के क्रय (=प्राप्ति) की इच्छावाला सोम का सौदागर बनने की कामनावाला 'लाजा, सोमांशु व मधु' का प्रयोग करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अतिथ्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अतिथि-महावीर-उपसद्

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता॥१४॥

१. 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'अतिथि' शब्द प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाले का वाचक है। इसी अतिथि की भाववाचक संज्ञा 'आतिथ्य' है, अर्थात् प्रभु की ओर निरन्तर चलना। उस **आतिथ्यरूपम्**=आतिथ्य का निरूपक चिह्न यह है कि **मासरम्**=(मासेषु रमन्ते—द०) ये प्रभु के उपासक प्रत्येक मास में रमण करते हैं, इन्हें वर्ष का कोई भी महीना प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता। इनका दृष्टिकोण यह होता है कि **'वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः। वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः'**। वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म भी रमणीय है और वर्षा के बाद शरद्, हेमन्त व शिशिर भी रमणीय हैं। ऋतुमात्र सुन्दर

हैं, इन ऋतुओं के बनानेवाले सभी मास रमणीय हैं। २. **महावीरस्य**=इस संसार में प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु की ओर चलनेवाले 'महान् वीर' का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यही है कि **नग्नहुः**=स्वयं नग्न रहकर भी (हु) दान देता है। अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढ़ाता, जिससे अधिक-से-अधिक दे सके। ३. अतिथि व महावीर बनने के लिए **उपसदाम्**=आचार्यों के समीप उपस्थित होनेवाले—आचार्य-चरणों में अन्ततः प्रभु के चरणों में बैठनेवाले ब्रह्मचारियों का **रूपम्**=निरूपकचिह्न **एतत्**=यही है कि **तिस्रो रात्रीः**=आचार्य के समीप तीन रात्रियों तक रहकर इन्होंने **सुरा सुता**=(सुर् to govern, to rule, to shine) आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की दीप्ति का निष्पादन किया है। यहाँ तीन रात्रियाँ—२४, ४४ व ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्यकालों का उपलक्षण हैं। आजकल की भाषा में प्रारम्भिक शिक्षणालय का काल, उच्च विद्यालय का काल तथा महाविद्यालय का काल हैं। इतने समय तक विद्यार्थी आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान को सिद्ध करने के लिए यत्नशील रहता है। आचार्य-चरणों में वास का यही चिह्न है।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाले को सभी मास सुन्दर लगते हैं। महान् वीर वह है जो स्वयं भूखा रहकर भी औरों को खिलाता है। आचार्य चरणों में रहनेवाला आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की साधना करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

परिषेचन

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत्परिषिच्यते।
अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायेन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥१५॥

१. तेरहवें मन्त्र में कहा था कि 'सोमक्रय' सोम का ख़रीदार बनने का निरूपक चिह्न यह है कि हम 'लाजा-सोमांशु व मधु' का प्रयोग करते हैं। चौदहवें मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि विद्यार्थी आचार्य के समीप रहकर आत्म-नियन्त्रण व ज्ञानदीप्ति को सिद्ध करता है। इस आत्म-नियन्त्रण ने उसे सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाया था। अब प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **क्रीतस्य सोमस्य**='सोम ठीक ख़रीदा गया', अर्थात् 'सोम की सम्यक्तया रक्षा की गई' इस बात का **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि **परिस्रुत्**=(परितः स्रवति प्राप्नोति—द०) शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाला यह सोम **परिषिच्यते**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों में रुधिर के माध्यम से सिक्त होता है। २. अङ्ग-प्रत्यङ्गों में **दुग्धम्** (दुह प्रपूरणे) प्रकृष्टतया पूरित हुआ-हुआ यह सोम **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की वृद्धि के लिए होता है। इससे शरीर में प्राणशक्ति व अपानशक्ति की वृद्धि होती है। ३. प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा **भेषजम्**=यह सब रोगों का औषध होता है। सब रोग-बीजों का दहन करके सोमक्रेता को नीरोग बनाता है। ४. **इन्द्राय**=यह इन्द्रशक्ति, आत्मशक्ति के विकास के लिए होता है और ५. अन्ततः **सरस्वत्या**=ज्ञान की देवता के द्वारा यह **ऐन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति का साधन होता है। इस 'सोम' से ही उस सोम (प्रभु) को प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ—सोम का क्रय तो उसने ही किया जिसने कि इसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिक्त करके रोगों का निवर्तक बनाया और आत्मशक्ति के विकास तथा ज्ञानवृद्धि के द्वारा परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनाया।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

भिषक्

आसन्दी रूपꣳराजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी।
अन्तरऽउत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक् ॥१६॥

१. 'आसन्दी' उस मञ्चिका=कुर्सी को कहते हैं जिसपर यज्ञशील पुरुष अधिष्ठित होता है। गतमन्त्र के अनुसार सोम का क्रय करके 'यह सोमक्रेता सोम को अपनी मञ्चिका बना पाया है (उस सोम का अधिष्ठाता बना है), इसका **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि वह **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाला (राज् to regulate) तथा (राज् to shine) ज्ञान-दीप्त हुआ है। शरीर में सोम के रक्षित होने पर आधि-व्याधियाँ नहीं रहतीं, जीवन बड़ा व्यवस्थित हो जाता है और सोम द्वारा ज्ञानाग्नि का दीपन होकर मनुष्य ज्ञान से चमक उठता है। २. **आसन्द्यै**=(आसन्द्यः) आसन्दी का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यह है कि **कुम्भी**=यह व्यक्ति कुम्भवाला बना है। 'कुम्भ' का अर्थ है 'क' का जिसमें पूरण (उभ उम्भ् पूरणे)=किया जाए, (क) अर्थात् आनन्द जिसमें भरा जाए। इस 'कुम्भवाला' व्यक्ति वह है जो आनन्द से परिपूर्ण है, जिसके मुख पर सदा विकास व उल्लास के चिह्न हैं। जो व्यक्ति सोम का अधिष्ठाता बनता है वह आनन्दमय व उल्लासमय जीवनवाला होता ही है। इसका जीवन सदा आशामय होता है। यह निराशावाद की बातें नहीं करता। ३. **वेद्यै**=(वेद्याः) वेदि का ज्ञाता बनने का, प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने का निरूपकचिह्न यह है कि यह व्यक्ति **सुराधानी**=सुरा का—नियन्त्रण का अपने में आधान करनेवाला होता है, अर्थात् इसका जीवन पूर्णतया नियन्त्रित होता है। ४. **उत्तरवेद्याः**=उत्कृष्ट ज्ञानी का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यह है कि यह **अन्तरः**=(अन्तः अस्य अस्ति इति अन्तर अच्) (क) अन्दरवाला होता है। सदा अन्दर देखनेवाला—आत्म-निरीक्षण करनेवाला बनता है, (ख) आचार्य ने 'अन्तर' शब्द 'अनिति' इस व्युत्पत्ति से बनाया है, तब अर्थ यह होगा कि यह उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, इस जीवन से सब वासनाओं को तैरनेवाला होता है। ५. **कारोतरः**=उत्कृष्ट कर्म करनेवाला, प्रभूत कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=सब रोगों का चिकित्सक बनता है। यह सब आधि-व्याधियों को दूर करके शरीर में नीरोग व मन में स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—सोम को अपनी आसन्दी बनाकर हम राजा बनें। इस सोमासन्दी से जीवन में आनन्द का सञ्चार करें। ज्ञानी बनकर नियन्त्रित जीवनवाले हों। उत्कृष्ट ज्ञानी बनकर सदा आत्मनिरीक्षण करें। कर्मों में लगे रहकर आधि-व्याधियों के वश में न हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सन्तान माता-पिता के अनुरूप

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्।
यूपेन यूपऽआप्यते प्रणीतोऽअग्निरग्निना॥१७॥

१. सोम के अधिष्ठाता, सोम का पूर्णरूप से नियन्त्रण करनेवाले माता-पिता यथेष्ट सन्तानों का लाभ करते हैं। **वेद्या**=(विद् ज्ञाने) ज्ञानी पुरुष से **वेदिः**=ज्ञानी सन्तान ही **समाप्यते**=प्राप्त की जाती है। माता-पिता ज्ञानप्रधान जीवनवाले हों तो सन्तानों में भी यही ज्ञान की रुचि उत्पन्न होती है। २. **बर्हिषा**=हृदयदेश से वासनाओं को उखाड़नेवाले पुरुष से

बर्हिः=वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश) करनेवाली और अतएव **इन्द्रियम्**=(इन्द्रियं वीर्यम्) वीर्यसम्पन्न सन्तान उत्पन्न की जाती है। ३. **यूपेन**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अच्छाइयों को अपने साथ जोड़नेवाले तथा बुराइयों को अपने से दूर करनेवाले पुरुष से **यूप**=सद्गुणसम्पन्न और असद्गुणरहित सन्तान होती है तथा ४. **अग्निना**=निरन्तर आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष से **अग्निः**=उन्नतिशील सन्तान ही **प्रणीतः**=बनाया जाता है।

भावार्थ—सन्तान माता-पिता के अनुरूप होते हैं। ज्ञानी का ज्ञान-सम्पन्न, निर्वासन का वासनाशून्य और शक्तिसम्पन्न, सद्गुणसम्पन्न का सद्गुणी तथा उन्नतिशील का उन्नतिशील सन्तान होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**गृहपतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

घर में चार आवश्यक कार्य

हविर्धानं यदश्विनाग्नीध्रं यत्सरस्वती।
इन्द्रायैन्द्रꣳसदस्कृतं पत्नीशालं गार्हपत्यः॥१८॥

१.**यत्**=यदि **अश्विना**=प्राणापान अपेक्षित हैं तो आवश्यक है कि हम 'हविर्धानं' अग्निकुण्ड में हवि का आह्वान करें, अर्थात् घर में नियम से अग्निहोत्र करें। इससे वायुशुद्धि, रोग-अभिसंहार होकर प्राणापान शक्ति में वृद्धि होगी। २. **यत्**=यदि हम **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता की आराधना करना चाहते हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो **आग्नीध्रम्**=अग्नीध्र की शरण में जाएँ। यह 'अग्नीध्र' आचार्य है। यह विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि का आधान करता है। वेद में अन्यत्र यही भावना **'अग्निनाऽग्निः समिध्यते'** इन शब्दों में कही गई है। ३. **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए, अर्थात् आत्मशक्ति के विकास के लिए **ऐन्द्रं सदः कृतम्**=परमेश्वर की उपासना का गृह बनाया गया है। घर में एकान्त शान्त स्थान का निर्माण हुआ है। यहाँ बैठकर यह 'हैमवर्चिः' प्रभु का उपासन करता है और अपने अन्दर उस प्रभु की शक्ति को प्रवाहित करने का प्रयत्न करता है। प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर ही यह 'इन्द्र' बन पाता है। ४. एवं, घर में एक 'हविर्धान' अग्निहोत्र करने का स्थान है, यह हमारी प्राणापान की शक्ति के वर्धन का कारण बनता है। **अग्नीध्र**=आचार्य के समीप बैठने का स्थान है, यह हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण होता है। **ऐन्द्रम्**=प्रभु के उपासन का स्थान है, यह हमारी आत्मिक शक्ति की वृद्धि करनेवाला होता है। इन सबके अतिरिक्त **पत्नीशालम्**=एक पत्नी की शाला है। यह **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य है, जहाँ घर के सब लोगों के रक्षण के लिए अन्नपाचन आदि कार्य सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—हमारा घर हविर्धान हो, अग्नीध्र, ऐन्द्रसदस् तथा पत्नीशाल हो। उसमें अग्निहोत्र, आचार्यों से ज्ञानोपार्जन, प्रभु का उपासन तथा गृह-सम्बन्धी कार्य उत्तमता से चलते रहें।

सूचना='पत्नीशालं गार्हपत्यः' शब्द से यह बात स्पष्ट है कि पत्नी का स्थान घर में है, उसे गृहकृत्यों में निपुण बनकर घर के कार्यों को उत्तमता से करना है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रैषों से प्रैषों को

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिरा प्रीर्यज्ञस्य।
प्रयाजेभिरनुयाजान्वषट्कारेभिराहुतीः॥१९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार घरों को सुन्दर बनाकर उन घरों में माता-पिता **प्रैषेभिः**=प्रकृष्ट गतियों के द्वारा (प्र+इष् गतौ) **प्रैषान्**=प्रकृष्ट गतिवाले सन्तानों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। उत्कृष्ट आचरणवाले माता-पिता के सन्तान भी उत्कृष्ट आचरणवाले होते हैं। २. **यज्ञस्य**=उत्तम कर्मों के **आप्रीभिः**=(तेजो वै ब्रह्मवर्चसं आप्रियः—ऐ० २।४) तेजों से, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे रहने से उत्पन्न शक्तियों के द्वारा **आप्रीः**=तेज के पुञ्ज, अत्यन्त तेजस्वी सन्तानों को पाता है। ३. **प्रयाजेभिः**=(प्राणा वै प्रयाजाः—ऐ० १।११) प्राणशक्ति के द्वारा **प्रयाजान्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को प्राप्त करता है और ४. **अनुयाजैः**=(अपाना अनुयाजाः—कौ० ६।९) अपानशक्ति के द्वारा **अनुयाजान्**=अपानशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाते हैं, इनके शरीर में दोष दूरीकरण की शक्ति ठीक बनी रहती है। ५. **वषट्कारेभिः**=(वाग्वै वषट्कारः। —श० १।६।२।२९) वाक्शक्ति के द्वारा वषट्कारान्=वाक्शक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाता है और अन्त में ६. आहुतिभिः=दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **आहुतीः**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है।

भावार्थ—माता-पिता का उत्तम आचरण सन्तान को भी सच्चरित्र बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पशुओं से पशुओं को

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवींष्यृष्या।
छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान्॥२०॥

१. **पशुभिः**=पशुओं से **पशून्**=पशुओं को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। यदि दौर्भाग्यवश माता-पिता में 'कामः पशुः क्रोधः पशुः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार काम-क्रोधादि पशुवृत्तियाँ प्रबल होंगी तो वे इन पशुवृत्तियों की प्रबलतावाले सन्तानों को ही प्राप्त करेंगे। २. **पुरोडाशैः**=(पुरः दाश्नोति=kill) परन्तु सबसे प्रथम इन काम-क्रोधादि के संहार से **पुरोडाशान्**=सबसे प्रथम काम-क्रोध का संहार करनेवाली सन्तानों को प्राप्त करता है। ३. **हविर्भिः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **हवींषि आप्नोति**=देकर खाने की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है ४. **छन्दोभिः**=(छन्दांसि छादनात्) अपने को पापों से बचाने की वृत्तियों से **छन्दांसिः**=अपने को पाप से बचानेवाले सन्तानों को प्राप्त करता है ५. **सामिधेनीभिः**=अपने में ज्ञान की समिधाओं के आधान की वृत्तियों से, अर्थात् ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **सामिधेनीः**=ज्ञानदीप्तियोंवाली सन्तानों को पाता है। ६. **याज्याभिः**=यज्ञ की क्रियाओं से **याज्ञाः**=यज्ञक्रियाओंवाली सन्तानों को और ७. **वषट्कारैः** =वाक्शक्ति के विकासों से **वषट्कारान्**=विकसित वाक्शक्तिवाली सन्तानों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—माता-पिता का पाशविक आचरण सन्तानों को पशुतुल्य बना देता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हविष्य अन्न (first grade)

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि।
सोमस्य रूपꣳहविषऽआमिक्षा वाजिनं मधु॥२१॥

१. गतमन्त्रों का विषय 'उत्तम सन्तान की प्राप्ति कैसे हो सकती है', यह था। अपनी उत्तम वृत्ति से ही हम सन्तानों को उत्तम बना पाएँगे। उस उत्तम वृत्ति के निर्माण के लिए भोजन का उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। इन भोजनों में 'वानस्पतिक भोजन' उत्तम है।

वास्तव में मांस तो भोजन कहे जाने योग्य ही नहीं। इन वनस्पतियों व ओषधियों का राजा 'सोम' है। 'कौषीतकी उपनिषद् २३।७' के अनुसार 'एतद्वै परममन्नाद्यं सोमः' सोम परम अन्नाद्य=सर्वोत्कृष्ट भोजन है। 'हविर्वै देवतानां सोमः'—श० १।३।५३।२ देवताओं का सोम ही दानपूर्वक अदन करने योग्य पदार्थ है। २. इसी **हविषः सोमस्य**'=दानपूर्वक अदन के योग्य सोम के **रूपम्**=(Kind, sort, species) स्थानापन्न तज्जातीय पदार्थ निम्न हैं—(क) **धानाः**=भुने हुए जौ, (ख) **करम्भः**=दधिमिश्रित सत्तु, (ग) **सक्तवः**=सत्तू (घ) **परीवापः**=भुने हुए चावल या घनीभूत दूध (ङ) **पयः**=दूध (च) **दधि**=दही, (छ) **आमिक्षा**=उष्ण दूध में दही डालने पर जो दूध का घनभाग होता है, वह आमिक्षा है, (ज) **वाजिनम्**=घनभाग के अतिरिक्त जो पानी-सा है यह 'वाजिनं' कहलाता है, (झ) **मधु**=शहद। ३. ये नौ पदार्थ सोम की जाति के हैं। सोम के साथ मिलकर इनकी संख्या दस हो जाती हैं। इन दस हविष्य अन्नों के प्रयोग से हम अपने अन्तःकरणों को उत्तम बनाकर उत्तम आचरणवाले होते हैं और वैसी ही सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम हविष्य पदार्थों का ही सेवन करें, जिससे शुद्धान्तकरणोंवाले हो सकें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

स्थानापन्न अन्न (Second grade)

धानानाꣳ रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः।
सक्तूनाꣳ रूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य ॥२२॥

१. गतमन्त्र में धान आदि हविष्य अन्नों का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उनमें से कुछ के स्थानापन्न पदार्थों का उल्लेख करते हैं—**धानानाम्**=भृष्ट=भुने हुए यवों का **रूपम्**=स्थानापन्न अन्न **कुवलम्**=उत्पल—कमलगट्टे हैं (कुवलं बदरीफले मुक्ताफलोत्पलयोश्च, इति कोशः) २. **परीवापस्य**=भुने हुए चावलों का **रूपम्**=स्थानापन्न अन्न **गोधूमाः**=गेंहू हैं। ३. **सक्तूनां रूपम्**=सत्तुओं का स्थानापन्न **बदरम्**=बेरों को सुखाकर बनाया गया चूर्ण है। तथा ४. **करम्भस्य**=दधिमिश्रित सत्तुओं का रूप **उपवाकाः**=यव (जौ) है। इक्कीसवें मन्त्र में प्रथमश्रेणी के अन्नों का उल्लेख हुआ था। बाइसवें तथा तेइसवें मन्त्र में द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रतिपादन हुआ है। प्रथम श्रेणी के अन्न न मिलने पर हम इन द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित 'कुवल-गोधूम-बदर व उपवाक' का भोजनरूप में प्रयोग करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अन्य उपादेय पदार्थ

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि।
सोमस्य रूपं वाजिनꣳसौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥२३॥

१. **यत् यवाः**=ये जो जौ हैं, वे **पयसः रूपम्**=दूध का स्थानापन्न भोजन हैं, २. **दध्नः रूपम्**=दही का स्थानापन्न भोजन **कर्कन्धूनि**=स्थूल बदरी फल हैं ३. **सोमस्य रूपम्**=सोम का स्थानापन्न **वाजिनम्**=दूध का पतला भाग (whey) है, ४. **सोमस्य**=सोम से बने हुए भोजन का स्थानापन्न **आमिक्षा**=फटे दूध का घनभाग है, जिसमें दही मिलाया गया है, (curd of milk and whey)

भावार्थ—'यव-कर्कन्धु-वाजिन तथा आमिक्षा' ये हमारे प्रिय भोजन हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गुरु-शिष्य

आ श्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावोऽअनुरूपः।
यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा ये यजामहाः॥२४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार सात्त्विक अन्नों का सेवनकरने वाले 'गुरु और शिष्य किस प्रकार अध्ययनाध्यापन करें' इस बात का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हे अध्यापक! आप **आश्रावय** (समन्तात् विद्योपदेशान् कुरु—द०) सब प्रकार से विद्यार्थियों को ज्ञान का ही श्रवण कराएँ, विविध विषयों में उन्हें ज्ञानप्रवीण करें। **इति**=बस, आपका यही कार्य हो। आपका ध्यान सदा पढ़ाने में ही हो, आपकी सारी शक्ति इसी कार्य में लगे। २. आप उन विद्यार्थियों को वह ज्ञान सुनाएँ जो **स्तोत्रियाः**=(स्तोत्राण्यर्हन्ति द०) इन स्तोत्रों के योग्य हैं, अर्थात् जिनकी योग्यता इन स्तोत्रों को उन्हें समझने के योग्य बनाती है। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। इसके सभी मन्त्र पदार्थों के गुणधर्मों का निरूपण करनेवाले होने से 'स्तोत्र' कहलाते हैं। ३. उन विद्यार्थियों को तू वह ज्ञान दे जो **प्रत्याश्रावः (प्रतिश्रावयति)**=पढ़े हुए पाठ को ठीक से सुना देता है, अर्थात् पूर्ण ध्यान से आचार्य-मुख से निकले शब्दों को सुनता है और उन्हें ठीक वैसा ही सुना देता है। ४. **अनुरूपः**=जो आचार्य के अनुरूप बनने के लिए उनके अनुकूल होने का पूर्ण प्रयत्न करता है। ५. अब विद्यार्थी के लिए कहते हैं कि **यज्ञा इति**=(देवपूजा-संगतिकरण-दान=यज्) तू आचार्यों का आदर कर, सदा आचार्यों के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न कर और अपने को आचार्य के प्रति दे डाल। यह आचार्य के प्रति अर्पण तुझे सर्वथा आचार्य के अनुरूप बना देगा। ६. **धाय्या**=(धेयमर्हा) ज्ञान के आधान के योग्य विद्यार्थियों का **रूपम्**=(Sign, feature) चिह्न यह होता है कि वे **प्रगाथाः**=प्रकृष्ट गायनवाले होते हैं। सदा ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं, और **ये**=जो **यजामहाः**=(भृशं यजन्ति) खूब यज्ञशील होते हैं। आचार्यों का आदर करते हैं, उनके सम्पर्क में रहते हैं, उनके प्रति अपना अर्पण कर देते हैं तभी आचार्य उन्हें अपने अनुरूप बना पाते हैं।

भावार्थ—(क) आचार्यों का एक ही कार्य हो कि वे ज्ञान देने में लगे रहें, (ख) विद्यार्थियों का भी एक ही कार्य हो कि वे उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम की प्राप्ति

अर्धऽऋचैरुक्थानाꣳरूपं पदैराप्नोति निविदः।
प्रणवैः शस्त्राणाꣳरूपं पयसा सोमऽआप्यते॥२५॥

१. **अर्धऋचैः**=मन्त्रभाग से **उक्थानाम्**=प्रवचनों का **रूपम्**=सौन्दर्य **आप्नोति**=प्राप्त किया जाता है। आचार्य विद्यार्थियों को 'श्रद्धा' के विषय में समझाते हुए **'श्रद्धया सत्यमाप्यते', 'श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि', 'श्रद्धया विन्दते वसु'** आदि मन्त्रभागों से विषय को बड़ा सौन्दर्य प्राप्त करा देते हैं। २. इसी प्रकार, **पदैः**=शब्दों से **निविदः**=निश्चयात्मक बातों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। 'भोजन' इसलिए भोजन है कि (भुज् पालनाभ्यवहारयोः) यह पालन के लिए खाया जाता है, अर्थात् यह स्पष्ट है कि

हमने शरीर-रक्षा के लिए खाना है, स्वाद के लिए नहीं। 'बाहु' इसीलिए 'बाहु' हैं कि (बाह प्रयत्ने) इनसे मनुष्य कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, इन्हें सदा कर्मों में लगाये रखता है। 'दीधिति' अंगुलियों का नाम है, चूंकि 'धीयन्ते कर्मसु' इन्हें कर्मों में आहित करना है। एवं, 'वैदिक पद' हमें निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **प्रणवैः**=(ओंकारैः द०) निरन्तर किये जानेवाले 'ओम्' के जप से **शस्त्राणांरूपम् आप्यते**=शस्त्र का रूप प्राप्त किया जाता है, अर्थात् यह **प्रणवः**=ओंकार जप करनेवाले का शस्त्र बन जाता है। उपनिषद् में तो 'प्रणवो धनुः' कहकर प्रणव को धनुष बना ही दिया है। इस प्रणवरूप धनुष से हम काम आदि शत्रुओं का (शंसन्ति-हिंसन्ति यैः) हिंसन करनेवाले होते हैं। ४. इस प्रकार **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के द्वारा **सोमः**=वह उमा के साथ रहनेवाले महादेव, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानवाले प्रभु **आप्यते**=पाये जाते हैं। उसी प्रकार जैसे **पयसा**=दूध से **सोमः**=वीर्य **आप्यते**=प्राप्त होता है। दुग्धादि के प्रयोग से सोम की प्राप्ति होती है। इस सोम से सब शक्तियों का आप्यायन करते हुए हम प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञानवृद्धि तो आवश्यक है ही। जप से वासना को दूर करना भी आवश्यक है और सात्त्विक भोजनों से सोम का वर्धन करते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाना भी आवश्यक है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सवन-त्रयी

अश्विभ्यां प्रातः सवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम्।
वैश्वदेवꣳसरꣳस्वत्या तृतीयमाप्तꣳसवनम्॥२६॥

१. उपनिषदों में 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायंसवन' का उल्लेख है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य ही प्रातःसवन है, इसे करनेवाला 'वसु' कहलाता है। ४४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य माध्यन्दिनसवन है। इसे करनेवाला 'रुद्र' है तथा तृतीयसवन ४८ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य है। इसे करनेवाला 'आदित्य' है। २. वसु ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणापान की शक्ति की वृद्धि करके उत्तम निवासवाला बनता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साधकों से यह प्रातःसवन किया जाता है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य इसकी प्राणापान शक्ति को खूब आप्यायित कर देता है। इस प्रातःसवन को करनेवाला व्यक्ति भी 'अश्विनौ' शब्द से कहलाने लगता है। ३. **इन्द्रेण**=इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले से **माध्यन्दिनम्**=४४ वर्ष का माध्यन्दिनसवन विस्तृत किया जाता है। यह **ऐन्द्रम्**=इन्द्रशक्ति का विकास करनेवाला होता है। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, यह भी सब आसुरवृत्तियों का संहार करता है। असुरों के लिए यह 'रुद्र'=भयंकर होता है। ४. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से **तृतीयं सवनम्**=यह ४८ वर्ष का तृतीयसवन **आप्तम्**=प्राप्त किया जाता है। यह तृतीयसवन **वैश्वदेवम्**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हितकर होता है। दिव्य गुणों व ज्ञान का आदान करने के कारण ब्रह्म का ग्रहण करनेवाला 'आदित्य' कहलाता है। यह ज्ञान का अधिकाधिक संचय करता है। (सरस्वत्या) तथा दिव्य गुणों की अपने में वृद्धि करता है (वैश्वदेवम्)।

भावार्थ—१. आचार्य-चरणों में 'उपसद्' बनने का पहला लाभ यह है कि प्राणापान शक्ति देकर हमें स्वस्थ बनाते हैं (अश्विभ्यां, वसु) २. दूसरा लाभ यह है कि हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले 'रुद्र' बनकर प्रभु बनते हैं (इन्द्रस्य इति ऐन्द्रम्) और

अन्त में ३. सरस्वती की अराधना करते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों को बढ़ाकर हम 'आदित्य' बनते हैं और सब दिव्य गुणों के स्वीकार से 'वैश्वदेवम्' होते हैं।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गति-स्थिति (गति से स्थिति तक)

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीराप्नोति॥२७॥

वायव्यैः=वायु-सम्बन्धी गुणों के द्वारा, अर्थात् 'वा गतिगन्धयोः' गति के द्वारा बुराइयों को समाप्त करने की वृत्ति से **वायव्यानि**=वायु-गुणयुक्त शिष्यों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, विद्यार्थियों को भी वह क्रियाशीलता के द्वारा बुराइयों के ध्वंस की वृत्तिवाला बना पाता है। २. **सतेन**=(सन् संभक्तौ) संभजन व संविभाग से, अर्थात् समय-विभाग के अनुसार कार्य करने से (विभागयुक्त कर्म से—द०) अथवा दिनचर्या के ठीक परिपालन से **द्रोण-कलशम्**=(द्रोणकलशो यस्य, द्रु गतौ—कलाः शेरते अस्मिन्) गतिशील कलायुक्त शरीरवाले को प्राप्त करता है, अर्थात् ठीक समयविभाग के अनुसार, संविभागपूर्वक समक्रियाओं के करनेवाले आचार्यों के विद्यार्थी भी ठीक क्रियाशील होते हैं और अपने इस शरीर में सब कलाओं का सम्यक् आधान करनेवाले होते हैं। उपनिषद् में वर्णित 'प्राण, श्रद्धा' आदि सब कलाएँ उनके जीवन में आश्रित होती हैं। ३. **कुम्भीभ्याम्**=(क+उम्य्=कः आनन्द व जल=देवशक्ति) आचार्य से अपने में आनन्दमयता व शक्ति के भरने से **अम्भृणौ**=महान् (अम्भृण इति महन्नाम, निघण्टौ) व वाणी के पिता **सुते**=उत्पन्न किये जाते हैं (अम्भृण Powerful, great, mighty, master of वाच्)। आचार्य अपनी आनन्दमयता व शक्तिमत्ता से विद्यार्थियों को भी शक्तिसम्पन्न व महान् बनाता है। आचार्य की आनन्दमय मनोवृत्ति विद्यार्थियों को वाणी के ज्ञान का अधिपति बना देती है। ४. **स्थालीभिः**=(स्थल प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा की वृत्तियों से, अर्थात् स्थिररूप से कार्य में लगे रहने की वृत्ति से **स्थालीः आप्नोति**=स्थिर वृत्तिवालों को प्राप्त करता है। आचार्य की स्थिरता विद्यार्थियों में भी स्थिरता को जन्म देती है।

भावार्थ—हम वायु की भाँति क्रियाशील व बुराइयों का संहार करनेवाले बनें, संविभागपूर्वक कार्यों को करते हुए हम गतिशील व षोडशकला सम्पूर्ण देहवाले हों। आनन्दमयता से हम महान् बनें, स्थिरता को अपनाएँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अव-भृथ

यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा ग्रहै स्तोमाश्च विष्टुतीः।
छन्दोभिरुक्थाशस्त्राणि साम्नावभृथऽआप्यते॥२८॥

१. **यजुर्भिः**=यजुर्वेद के मन्त्रों से **ग्रहाः**=(यैः सर्वं क्रियाकाण्डं ग्रह्णन्ति ते व्यवहाराः—द०) ग्रहणीय गृह व्यवहार—उपादेय कर्मकाण्ड **आप्यन्ते**=प्राप्त किये जाते हैं, अर्थात् यजुः मन्त्रों से हमें जीवन के सब कर्त्तव्यों का बोध होता है। यजुर्वेद का उपनाम ही कर्मवेद है। २. **ग्रहैः**=इन ग्रहणीय व्यवहारों व कर्त्तव्यों के ठीक पालन से ही वस्तुतः **स्तोमाः**=स्तवन तथा **विष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियाँ **आप्यन्ते**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् कर्मों के करने से ही प्रभु का अर्चन होता है और लोक में यश की प्राप्ति होती है। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**=प्रभु-अर्चन

तो स्वकर्म पालन से ही होता है तथा लोक में यशस्वी भी वही होता है जो अपने कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहता है। ३. **छन्दोभिः**=छन्दों के द्वारा ही **उक्थाशस्त्राणि**=उक्थ और शस्त्र प्राप्त होते हैं। 'छन्द' वेदमन्त्र हैं, 'उक्थ' प्रवचन हैं, शस्त्र=वासना-हिंसन के साधन हैं। एवं, अर्थ यह हुआ कि वेदमन्त्रों द्वारा उत्तम प्रवचन होते हैं तथा इन्हीं के उच्चारण से प्रेरणाओं को प्राप्त होते हुए और प्रभु-स्मरण करते हुए हम वासनाओं का **शंसन**=हिंसन कर पाते हैं। वस्तुतः हमें ये वासनाओं से बचाते हैं, इसी से तो इनका नाम 'छन्दस्' हुआ 'छादयन्ति'। ४. **साम्ना**=शान्ति से वासनाओं के सभी तूफ़ानों के शान्त हो जाने पर **अवभृथः**=यज्ञान्तस्नान **आप्यते**=प्राप्त होता है, अर्थात् जीवन-यज्ञ का पूर्ण शोधन साम से होता है। जिस दिन मैं साम व शक्ति को प्राप्त कर सका, वस्तुतः उसी दिन मेरा यह यज्ञ पूर्ण होता है।

भावार्थ—यजुर्वेद प्रतिपादित उत्तम कर्मों का हम ग्रहण करें, कर्म ही हमारे **स्तोम**=प्रभुस्तवन हों तथा हमारी उत्तम स्तुति का कारण बनें। छन्दों के द्वारा मेरी वासनाओं का हिंसन हो और इस वासना-संहार से मेरा जीवन साममय हो। यह शान्ति मेरे जीवनकाल का **अवभृथ**=यज्ञान्त स्नान हो। इस शान्ति में मेरे जीवन की पूर्ण पवित्रता हो।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इडा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

संस्था (ब्राह्मीस्थिति)

इडाभिर्भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त्समिष्टयजुषा सꣳस्थाम्॥ २९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अवभृथ' (यज्ञान्त स्नान) करनेवाला व्यक्ति **इडाभिः**=पृथिवी से (इडा=पृथिवी—नि० १।१) **भक्षान्**=भक्षणीय पदार्थों को प्राप्त करता है अथवा **इडाभिः**=गौओं से (इडा=a cow) भोजन को प्राप्त करता है, अर्थात् इसका भोजन दूध व वानस्पतिक अन्न, शाक-फल ही होते हैं। २. इन सात्त्विक भोजनों का सेवन करते हुए सात्त्विक अन्तःकरणवाला बनकर **सूक्तवाकेन**=सदा मधुर, सत्य वाणियों के द्वारा यह, **आशिषः**=इच्छाओं को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने जीवन में सत्य को प्रतिष्ठित करके यह सब क्रियाओं को सफल कर पाता है, यह जैसा चाहता है, वैसा ही सोचता है। ३. इस प्रकार सात्त्विक भोजनों व सत्य का सेवन करनेवालों का जीवन शान्त होता है। इस **शंयुना**=शान्ति को अपने साथ जोड़ने से यह **पत्नीसंयाजान्**=पत्नी के साथ उत्तम यज्ञों का **आप्नोति**=व्यापन करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में अपने जीवन-सखा (पत्नी) से मिलकर उत्तमोत्तम यज्ञात्मक कर्मों का करनेवाला होता है। ४. **समिष्टयजुषा**=इन किये हुए उत्तम यज्ञों से (सम्=सम्यक् इष्ट=कृत यजुः=यज्ञ) **संस्थाम्**=उत्तम स्थिति को ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हमारा भोजन अन्न, फल, शाक व दूध हों। हम सत्य से सब इष्टकार्यों को सिद्ध करें। शान्ति से गृहस्थ में यज्ञों का सेवन करें। इन सम्यक् कृत यज्ञों के द्वारा स्थितप्रज्ञता व ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रतम्-सत्यम्

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ ३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'संस्था'=ब्राह्मीस्थिति पर थी, यही प्रस्तुत मन्त्र में 'सत्य की प्राप्ति' इन शब्दों से कही जा रही है। उस सत्य की प्राप्ति का क्रम यह है—**व्रतेन**=व्रत से **दीक्षाम्**=दीक्षा को **आप्नोति**=प्राप्त होता है। यहाँ मानव-जीवन का प्रारम्भ है। इस प्रारम्भिक ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति व्रत के द्वारा—नियम के द्वारा **दीक्षा**=(self devotion) आत्मभक्ति (ब्रह्मचर्य=प्रभु की ओर चलना) का निश्चय करता है। वस्तुतः हम अपने जीवन में क्रमशः 'माता-पिता-आचार्य-अतिथि' व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनते हैं। यही हमारे जीवन की 'पंचायतनपूजा' है। भौतिक क्षेत्र में इन पाँचों का क्रमशः पृथिवी आदि के साथ सम्बन्ध है। माता पृथिवी है, पिता सब कष्टों का निवारण करने का प्रयत्न करता हुआ **वारि**=जल के तुल्य है, आचार्य अग्नि है, अतिथि वायु की भाँति निरन्तर भ्रमण करनेवाला है और प्रभु समन्तात् दीप्त आकाश के समान हैं। हम उत्तरोत्तर इनके प्रति अपना अर्पण करते हैं, यही अर्पण 'दीक्षा' है। इस दीक्षा के लिए व्रत का ग्रहण करना होता है, अन्यथा दीक्षा सम्भव ही नहीं। २. अब गृहस्थ में **दीक्षया**=इस दीक्षा के द्वारा **दक्षिणाम्**=दक्षिणा को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। दीक्षित अनायास दान की वृत्तिवाला होता है। गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य 'दक्षिणा' है, जिस प्रकार ब्रह्मचारी का मौलिक कर्त्तव्य 'आत्मसमर्पण' था। ३. अब वानप्रस्थ में इस दक्षिणा देने की वृत्ति से **श्रद्धाम्**=(सत्=सत्यं, धा=धारण) सत्य के धारण को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, अर्थात् जितना-जितना देता है उतना-उतना सत्य का धारण चलता है। न देना ही असत्य की ओर जाना है। अपरिग्रह सत्य की ओर ले-जाता है और परिग्रह असत्य में फँसाता है। ४. अब ब्रह्माश्रम (संन्यास) में **श्रद्धया**=इस सत्यधारण की वृत्ति से अन्ततः **सत्यम्**=वह सत्य प्रभु **आप्यते**=प्राप्त किया जाता है। सत्य का धारण करते हुए धीमे-धीमे हम पूर्णसत्य को अपना पाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में व्रती बनें, दीक्षित हों, दक्षिणा=दान की वृत्तिवाले हों, इस दान की वृत्ति से उत्तरोत्तर सत्य का अपने में धारण करते हुए पूर्णसत्य को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ की पूर्णता

एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम्।
तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'व्रत-दीक्षा-दक्षिणा-श्रद्धा' के माध्यम से सत्य की प्राप्ति का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि बस, **एतावत्**=इतना ही **यज्ञस्य रूपम्**=यज्ञ का रूप है। वस्तुतः यही यज्ञ है। **यत्**=जो **देवैः**=दिव्य गुणों से युक्त मनवालों से **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक **कृतम्**=सम्पादित हुआ है। इस सत्य की प्राप्ति देवों को होती है। बिना दिव्य गुणों के अपनाये सत्य-प्राप्ति सम्भव नहीं। इस सत्य की प्राप्ति के लिए दिव्य गुणों के साथ ज्ञान भी आवश्यक है। वास्तव में ज्ञान के बिना दिव्य गुणों की प्राप्ति भी सम्भव नहीं, २. परन्तु **तत् एतत् सर्वम्**=ये सब दिव्य गुण तथा ज्ञान **आप्नोति**=मनुष्य तभी प्राप्त करता है, जब **यज्ञे सौत्रामणी सुते**=(सौत्रामणी=सौत्रमण्याम्) सौत्रामणी यज्ञ किया जाता है। सौत्रामणी यज्ञ के **सुते**=निष्पादित होने पर ही ये सब अच्छे गुण व ज्ञान प्राप्त हुआ करते हैं। यह सौत्रामणी यज्ञ=(सुत्रा) इस शरीर की उत्तमत्ता से रक्षा ही है। इसपर किसी प्रकार के रोगों का आक्रमण न हो जाए, यही सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ के लिए सुरा का सेवन होता

है। ('सुर्' to govern, to rule) **सुरा**=आत्मनियन्त्रण का साधन होता है। बिना आत्मनियन्त्रण के यह यज्ञ सिद्ध नहीं होता। इस नियन्त्रण में ही वीर्यरक्षा का आधार है। यह वीर्यरक्षा मनुष्य को पूर्ण स्वस्थ बनाती है और इस प्रकार हम सौत्रामणी यज्ञ को सिद्ध करते हैं। ३. एवं, हम शरीर में स्वस्थ बनते हैं, मन में देव बनते हैं, मस्तिष्क में ब्रह्म=ज्ञान का पूरण करते हैं। बस, यही 'जीवनयज्ञ' का पूर्ण रूप है।

भावार्थ—दिव्य गुणों के धारण, ज्ञान की प्राप्ति व शरीर की रोगों से पूर्णरक्षा के द्वारा हम जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का वर्धन

सुरावन्तं बर्हिषदꣳसुवीरꣳयज्ञꣳहिन्वन्ति महिषा नमोभिः।
दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ के करनेवाले **महिषा**=(मह् पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले साधक **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, अपने जीवन में नम्रता-धारण के द्वारा **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **हिन्वन्ति**=अपने में बढ़ाते हैं, अर्थात् अपने हृदयों में प्रभु की भावना को उज्ज्वल करते हैं। उस प्रभु की भावना को, जो २. (क) **सुरावन्तम्** (सुर् to shine) ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, सारे ज्ञान के स्रोत हैं। वे ही आदिगुरु हैं, सभी को ज्ञान देनेवाले हैं। (ख) **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले हैं। (ग) **सुवीरम्**=(शोभना वीरा शरीरात्मबलयुक्ता यस्मात् तम्) जिस प्रभु के उपासन से उपासक शरीर व आत्मा के बल से युक्त होते हैं। ३. इस प्रभु के उपासन से वासनाशून्य होकर हम वीर्य को सुरक्षित कर पाते हैं और **सोमं दधानाः**=इस सोम का धारण करते हुए, **दिवि**= प्रकाश में तथा **देवतासु**=दिव्य गुणों में अपने को धारण करते हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश तथा मन में वासनाशून्यता के कारण एक अदभुत आनन्द का अनुभव होता है। ४. हम **इन्द्रं यजमानाः**=उस घर में ऐश्वर्यशाली प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हुए **स्वर्काः**=उत्तम उपासनवाले हों तथा उत्तम अन्नों का (अर्क=अन्न-नि०) सेवन करनेवाले हों। प्रभु के सम्पर्क के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न सहायक होते हैं। इनसे अन्तःकरण की शुद्धि होकर स्मृति ठीक बनी रहती है, वासना-ग्रन्थियों का विनाश होकर हम प्रभु-दर्शन के योग्य हो जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु-उपासन के लिए चित्तवृत्ति को ठीक रखने के उद्देश्य से सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुरया-सोम

यस्ते रसः सम्भृतऽओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्॥३३॥

१. **यः**=जो **ते**=तेरा **ओषधीषु**=ओषधियों में **रसः**=रस **सम्भृतः**=धारण किया गया है और उस रस के द्वारा **सुरया**=आत्मनियन्त्रण के साथ **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न किये गये सोम (वीर्यशक्ति) का **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल है **तेन**=उस सोम के बल से **यजमानम्**=प्रभु के साथ अपना सम्पर्क करनेवाले इस यज्ञशील पुरुष को **मदेन**=आनन्द व उल्लास से

जिन्व=प्रीणित कर। २. प्रभु ने वनस्पतियों में एक रस की स्थापना की है। यह रस उत्तम सोम का उत्पादक होता है, इस सोम को यदि आत्मनियन्त्रण के द्वारा व्यक्ति अपने में ही सुरक्षित रखता है तब यह सोम इस 'यजमान' के जीवन को आनन्दित करनेवाला होता है, वास्तव में यह सुरक्षित सोम ही उसे यजमान=प्रभु के साथ सङ्गत करनेवाला बनाता है। इस प्रभु-सम्पर्क से यजमान का जीवन आनन्द से परिपूर्ण हो उठता है। ३. यह नियन्त्रित सोम इस यजमान को (क) **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिदेवता ही बना देता है, यह बड़ा ज्ञानी बनता है। (ख) **अश्विनौ**=इस सोम के रक्षण से पुरुष प्राणापान शक्ति का पुञ्ज बनता है (ग) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों की शक्तिवाला होता है तथा (घ) **अग्निम्**=सब दोषों का ध्वंस करके आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—हम ओषधियों के सेवन से सोम को शरीर में उत्पन्न करें। आत्मनियन्त्रण के द्वारा इस सोम की रक्षा करें। यह सुरक्षित सोम हमें आनन्द से प्रीणित करे। हमें यह प्रभु के मेलवाला (यजमान), ज्ञानी (सरस्वती), दीर्घजीवी (अश्विनौ), शक्तिसम्पन्न इन्द्रियोंवाला (इन्द्र) तथा दोषदहनपूर्वक आगे बढ़नेवाला (अग्नि) बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सोम+रक्षण, सोम का अध्याहरण (अश्विनौ द्वारा)

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तꣳशुक्रं मधुमन्तमिन्दुꣳसोमꣳ राजानमिह भक्षयामि॥३४॥

१. मैं **इह**=इस मानव-जीवन में **तम्**=उस २. (क) **शुक्रम्**=(शीघ्रं बलकरम्) शीघ्र-बलकारी=जिसके होने पर मनुष्य शीघ्रता से शक्तिपूर्वक कार्यों को करता है। (ख) **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले—जो मेरे व्यवहार को मधुर बनाता है। (ग) **इन्दुम्**=(इन्द् to be powerful) परमैश्वर्यकारक तथा (घ) **राजानं सोमम्**=मेरे जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम—वीर्य को **भक्षयामि**=अपने में धारण करता हूँ, अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। २. उस सोम को मैं अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ **यम्**=जिसको **आश्विनौ**=प्राणापान **आसुरात्**=असुरवृत्तियों के लिए हितकर, अर्थात् आसुर भावनाओं को पनपानेवाले **नमुचेः (न मुच्)**=पीछा न छोड़नेवाले (Last infirmity of noble minds) इस अहंकार नामक असुरराज से **अधि**=(आश्विनौ ह्येनं नमुचेरध्याहरताम्। —श० १२.८.१.३) ऊपर उठानेवाले हुए, अर्थात् प्राणापान की साधना का परिणाम यह हुआ कि इस वीर्य के कारण इसके अधिष्ठानभूत वीर पुरुष में अहंकार की भावना उत्पन्न नहीं हुई। एवं, प्राणायाम के अभ्यास के अभाव में यह वीर्य राजस्रूप धारण करके मनुष्य को अहंकारी बना देता है। प्राणायाम से सात्त्विकता बनी रहती है और अहंकार की उत्पत्ति नहीं होती। यही अश्विनीदेवों का नमुचि से सोम का अध्याहरण है, अंहकार से ऊपर उठाना है। ३. अब अश्विनीदेवों द्वारा नमुचि से अध्याहरित इस सोम को **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रियाय**=इन्द्र के शरीर के लिए **असुनोत्**=सिद्ध करती है। अहंकार से ऊपर उठे हुए पुरुष का वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और उसकी शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना वीर्यरक्षा का सुन्दर साधन है। वीर्य का ज्ञानाग्नि-दीपन में विनियोग होकर उस का सुन्दर सद्व्यय हो जाता है, उससे आत्मा की शक्ति का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणायाम की साधना वीर्य की केवल रक्षा ही नहीं करती, अपितु उस वीर पुरुष को अभिमान का शिकार भी नहीं होने देती। 'ज्ञान-प्राप्ति में लगना' उस वीर्य का

सद्व्यय करके आत्मशक्ति को बढ़ानेवाला होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शची द्वारा सोमपान

यदत्र रिप्तꣳरसिनः सुतस्य यदिन्द्रोऽअपिबच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमꣳराजानमिह भक्षयामि॥३५॥

१. **यत्**=जो **रसिनः**=रसवाले जीवन को माधुर्य से भरनेवाले **सुतस्य**=अभिषुत (उत्पन्न) सोम का **रिप्तम्**=(लिप्तं प्राप्तम् द.) अंश प्राप्त हुआ है, **यत्**=जिस अंश को **इन्द्रः**=इन्द्रियों का विजेता जीवात्मा **शचीभिः**=ज्ञानों व कर्मों के द्वारा तथा प्रभुनाम जपन के द्वारा **अपिबत्**=अपने अन्दर पीता है, अर्थात् व्याप्त कर लेता है। २. स्पष्ट है कि सोम जीवन को मधुर बनानेवाला है (रसिनः), इसके अभाव में शरीर में रोग आ जाते हैं और मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि पनपने लगते हैं, इस प्रकार मनुष्य का जीवन कड़वा हो जाता है। ३. इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखने का साधन यह है कि मनुष्य यज्ञ-यागादि उत्तम कर्मों में लगा रहे और अपने अतिरिक्त समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये। (शचीभिः) उससे भी श्रान्त हो जाने पर वाणी से प्रभु का नाम जपने में प्रवृत्त हो। ४. **अहम्**=मैं भी **अस्य**=इस सोम के **तत्**=उस अंश को **शिवेन मनसा**=शिव मन के हेतु से **भक्षयामि**= अपना भाग बनाता हूँ। इस सोम की रक्षा से मेरा मन शिव वृत्तिवाला बनता है, उसमें सभी के कल्याण की भावना उत्पन्न होती है। ५. वस्तुतः सोम के इन सब लाभों का विचार करके कि (क) यह मेरे जीवन को माधुर्यवाला बनाता है, (ख) इसके रक्षण से मेरा मन शिव बनता है, मैं **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **सोमं राजानम्**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाले इस सोम को **भक्षयामि**=अपना भोजन बनाता हूँ। इसे अपने शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—१. सोमरक्षा का प्रकार यह है कि हम कर्मों में लगे रहें, ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के नाम का जप करें। २. रक्षित सोम (क) हमारे जीवन को मधुर बनाएगा, (ख) मन को शिव बनाएगा (रसिनः) तथा (ग) हमारे मस्तिष्क को ज्ञान-दीप्त करेगा (राजानम्)।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पितृश्राद्ध

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्॥३६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाले युवक व युवति रसमय व मधुर जीवनवाले बने रहते हैं। उनके मन शिव होते हैं और उनका ज्ञान दीप्त होता है। इस प्रकार उत्तम जीवनवाले वे दम्पती वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए-हुए अपने पिता, पितामह व प्रपितामह को समय-समय पर आमन्त्रित करते हैं। इन पितरों को वे 'स्वधा'=अन्न प्राप्त कराते हैं तथा 'नमः' उनका सत्कार करते हैं। इनके आमन्त्रण को स्वीकार करके वे पितर आते हैं और इसीलिए वे 'स्वधायी'=(स्वधां प्रति एतुं शीलं यस्य) कहलाते हैं। इन **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आने के स्वभाववाले **पितृभ्यः**=पिताओं कि लिए **स्वधा नमः**=अन्न तथा सत्कार हो। २. इसी प्रकार **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले

पितामहेभ्यः=पितामहों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो तथा **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले **प्रपितामहेभ्यः**=परदादों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो। ३. यहाँ मन्त्र में आमन्त्रण क्रम पिता-पितामह व प्रपितामह है, यद्यपि आयु की दृष्टि से बड़प्पन का मान करते हुए यह क्रम प्रपितामह-पितामह-पिता होना चाहिए तथापि सम्भावना का ध्यान करते हुए यह क्रम बदल दिया गया है। पिता जो ५१ व ५२ वर्ष के होंगे उनके आने का तो सम्भव है ही। पितामह भी ७४ व ७५ वर्ष की आयु होने से सम्भवतः आएँ, परन्तु इस समय तक जो १०० वर्ष से ऊपर के होंगे उनके आने का संशय ही है। पिता से सम्बन्ध का सामीप्य भी है। जो पिता से सम्बन्ध है, पितामह से उतना नहीं होता और प्रपितामह से यह सम्बन्ध और भी दूर का होता है। सन्तान पर पिता का प्रभाव अधिक पड़ता है, पितामह का इससे कम और प्रपितामह का उससे भी कम, परन्तु फिर भी युवक दम्पती इन सभी को आमन्त्रित करते हैं और उनका भोजनादि के द्वारा मान करते हैं। ४. ये युवक बड़े प्रसन्न होते हैं कि उनके आमन्त्रण को स्वीकार करके **पितरः अक्षन्**=पितरों ने भोजन किया है और **पितरः अमीमदन्त**=पितर प्रसन्न हुए हैं, और **पितरः अतीतृपन्त**=उन पितरों ने तृप्ति का अनुभव किया है। ५. अब प्रसन्न व तृप्त पितरों से ये प्रार्थना करते हैं कि हे **पितरः शुन्धध्वम्**=आप उत्तम उपदेश व प्रेरणाओं से हमारे जीवनों को शुद्ध कीजिए। वस्तुतः पितृश्राद्ध का सर्वमहान् लाभ यही है कि हम अपने उन पितरों से अपने कुलधर्मों व जातिधर्मों का उपदेश ग्रहण करके अपने जीवन में प्रेरणा प्राप्त करते हैं तथा उनके आशीर्वादों से शुभमार्ग पर चलने की शक्ति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम पिता-पितामह व प्रपितामहों को वानप्रस्थाश्रमों से समय-समय पर घर में आमन्त्रित करें। उनका अन्नादि द्वारा सत्कार करें। उनसे उपदेश व प्रेरणा लेकर अपने जीवनों को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्र शतायुष्य

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥ ३७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितृश्राद्ध करनेवाला प्रार्थना करता है कि **मा**=मुझे **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य—शान्त स्वभाववाले **पितरः**=ये पिता **पुनन्तु**=पवित्र करें। उनके जीवन की सौम्यता मेरे जीवन को भी सौम्य बनाए। **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः**=प्रपितामह भी **पुनन्तु**=मेरे जीवन को पापशून्य बनाएँ। मुझे ये सब **शतायुषा**=सौ वर्ष के जीवन को देनेवाले **पवित्रेण** =जीवन को पवित्र करने के साधनभूत ज्ञान से पवित्र कर दें। २. **शतायुषा पवित्रेण**=सौ वर्ष का आयुष्य देनेवाले पवित्रीकरण के साधनभूत ज्ञान से **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः पुनन्तु**=प्रपितामह पवित्र करें, जिससे **विश्वम्**=पूर्ण आयु—जीवन को **व्यश्नवै**=मैं विशेषरूप से प्राप्त करनेवाला बनूँ। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों। यह होगा तभी जब मैं पवित्र बनूँगा, अतः ये पितर मुझे अपने उपदेशों व सौम्य जीवनों की क्रियात्मक प्रेरणाओं से पवित्र कर दें। मेरा जीवन शुद्ध हो और मैं शतायु बनूँ।

भावार्थ—मैं पितरों की प्रेरणाओं से व उनके आचरण से अपने जीवन को शुद्ध बनाऊँ तथा शुद्ध जीवनवाला बनकर पूरे सौ वर्ष तक चलनेवाला बनूँ। 'पवित्रशतायुष्य' ही मेरा ध्येय हो।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दीर्घायुष्य के तीन साधन

अग्नऽआयूꣳषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥३८॥

१ **अग्ने**=हे परमात्मन्! **आयूँषि**=आयुष्य के पावक कर्मों को ही **पवसे**=(पावयसे चेष्टयसे) हमसे करवाइए। आपकी कृपा व प्रेरणा से हमारे सारे आहार-विहार ऐसे हों जो दीर्घजीवन का कारण बनें। २. इस दीर्घजीवन के लिए ही आप **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाले दुग्धादि पदार्थों को तथा **इषम्**=व्रीह्यादि धान्यों को **आसुव**=दीजिए। दीर्घजीवन के लिए हम 'अन्न व रस' का ही सेवन करनेवाले बनें तथा ३. साथ ही आप ऐसी कृपा कीजिए कि **दुच्छुनाम्**=(दुष्टं श्वनं) दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को **आरे**=दूर ही **बाधस्व**=नष्ट कीजिए। हमसे इन्हें दूर ही रखिए। यह दुष्टसङ्ग दीर्घजीवन के लिए बड़ा विघ्न होता है। (तैः रहितो हि पुरुषः परमायुः प्राप्नोति—द०) दुष्टसङ्ग से रहित पुरुष ही दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि १. क्रियाशील बना जाए (पवसे) २. व्रीहि व दधि आदि अन्न-रसों का ही प्रयोग किया जाए ३. दुष्ट-सङ्ग से दूर रहा जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सत्सङ्ग

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥३९॥

१. हे प्रभो! **मा**=मुझे **देवजनाः**=देवजन—दिव्य वृत्तिवाले लोग **पुनन्तु**=पवित्र करें। गत मन्त्र में कहा था कि 'आरे बाधस्व दुच्छुनाम्' दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को हमसे दूर ही नष्ट कीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में दुःसंग से विपरीत सत्सङ्ग की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं कि देव-वृत्तिवाले लोगों के सङ्ग से हमारा जीवन पवित्र बने। २. **मनसा**=विचारपूर्वक किये जानेवाले **धियः**=कर्म **पुनन्तु**=हमारे जीवनों को पवित्र करें। वस्तुतः मनुष्य तो है ही वह जो **मत्वा कर्माणि सीव्यति** विचारपूर्वक कर्म करता है। ऐसे कर्म ही हमारे जीवन को पवित्र करते हैं। अकर्मण्यता सब अपवित्रताओं का कारण है। अविचारपूर्वक किये गये कर्म भी हमारे दुःखों व मानस मालिन्य के कारण बन जाते हैं। ३. **विश्वा भूतानि**='पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक सब भूत **पुनन्तु**=हमारे जीवन को पवित्र करें। इनसे सिद्ध होनेवाली पवित्रता मेरे शारीरिक स्वास्थ्य का कारण बनेगी। ४. **जातवेदः**=हे सर्वज्ञ प्रभो! **मा पुनीहि**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। हृदयस्थ प्रभु मुझे अपने ज्ञान से दीप्त करके पवित्र कर डालते हैं।

भावार्थ—१. देवजन मुझे पवित्र करें। २. विचारपूर्वक किये गये कर्म मुझे पवित्र करें ३. पृथिवी आदि भूत मुझे पवित्र करें ४. सर्वज्ञ प्रभु मुझे पवित्र करें।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-शक्ति व कर्मसंकल्प

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँ२॥ऽरनु॥४०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'जातवेदः पुनीहि मा' यह प्रार्थना थी। उसी प्रार्थना को दूसरे शब्दों में करते हुए मन्त्र का आरम्भ करते हैं कि **देव**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होनेवाले तथा पवित्र अन्तःकरणों को द्योतित करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **पवित्रेण**=पवित्रता के सर्वोत्तम साधनभूत ज्ञान से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। मेरा ज्ञान उत्तम होगा तो विचारों की उत्तमता के कारण मेरे उच्चारण व आचरण भी उत्तम होंगे। विचार ही स्थूलरूप धारण करके क्रिया में परिणत हुआ करते हैं। २. हे **दीद्यत्**=तेजस्विता से दीप्त प्रभो! आप मुझे **शुक्रेण**=शीघ्रता से कार्य करने में समर्थ करनेवाली वीर्यशक्ति से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। यह सुरक्षित 'शुक्र' ही तो मेरे मानस को 'शुचि' (पवित्र) बनाएगा। ३. हे **अग्ने**=सारे संसार को गति देनेवाले प्रभो! **क्रतून् अनु**=यज्ञों का लक्ष्य करके **क्रत्वा**=संकल्प व क्रिया से मुझे पवित्र कीजिए। मेरे हृदय में सदा यज्ञात्मक कर्मों का ही संकल्प हो तथा उस संकल्प के अनुसार मैं उन यज्ञों के सम्पादन में प्रवृत्त रहूँ। ये यज्ञ ही उत्तम कर्म हैं। इनमें निरन्तर प्रवृत्त मैं अपने जीवन को अपवित्रता से बचा सकूँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे ज्ञान-शक्ति तथा उत्तम कर्मों के संकल्पों द्वारा पवित्र कीजिए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान की ज्वाला

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने वितततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा॥४१॥

१. 'परमात्मा क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह ज्योतिरूप हैं—मानो वह ज्ञानाग्नि की प्रसृत ज्वालाएँ हैं। उस ज्योतीरूप प्रभु से 'वैखानस' प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=ज्ञानाग्निरूप प्रभो! **यत्**=जो **पवित्रं ब्रह्म**=सब पवित्रताओं का साधनभूत ज्ञान **ते**=आपके **अर्चिषि अन्तरा**=सत्कार करने योग्य शुद्ध तेजस्वरूप में (अन्तरा=मध्य में) **विततम्**=विस्तृत है, **तेन**=उस उत्तम ज्ञान से **मा पुनातु**=मुझे पवित्र कीजिए। २. जैसे सोना अग्नि में तपकर, मल के भस्म हो जाने से निखर उठता है, उसी प्रकार मैं भी आपकी इस ज्ञानाग्नि की ज्वाला में तपकर पवित्र हो जाऊँ। अग्नि में सब दोषों का दहन हो जाता है। ज्ञानाग्नि के पुञ्ज आपमें पड़कर मेरे भी सब मलों का दहन हो जाए। वस्तुतः ज्ञान वह तेज है जिसके साथ किसी अपवित्रता—पाप व मल का सम्भव ही नहीं। इस ज्ञान से दीप्त होकर मैं भी निर्मल हो जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान मेरे जीवन को उज्ज्वल कर दे।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पवित्रकर्त्ता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्रता

पवमानः सोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा॥४२॥

१. **सः पवमानः**=वह शोधक सोम **अद्य**=आज **नः**=हमें **पुनातु**=पवित्र करे। हमारे शरीर के रोगों को नष्ट करके हमें स्वास्थ्य की दीप्ति देनेवाला हो। २. **विचर्षणिः**=वह æ'Vkj gekjs Ñr dks tkuus ky k iz:kq Sins of omissions (अकृत) तथा Sins of commissions (कृत) को देखनेवाला परमात्मा **पवित्रेण**=पवित्र करनेवाले ज्ञान से **मा**=मुझे

पुनातु=पवित्र करे। मुझे वह ज्ञान प्राप्त हो जिसके प्राप्त होने पर मैं पापों से मुक्त हो जाऊँ। ३. **यः पोता**=जो हमारे हृदयों को पूर्ण पवित्र कर देनेवाले प्रभु हैं **सः**=वे वासना को नष्ट करके शुद्धता को उत्पन्न करनेवाले प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पूर्ण पवित्र कर दें। प्रभु के नाम का जप व तदर्थभावन मेरे हृदय को वासनाशून्य करनेवाला हो।

भावार्थ—सोम मुझे नीरोग करके स्वास्थ्य की दीप्ति दे। सर्वव्यापक प्रभु के सामीप्य को अनुभव करके मैं पापों से बचूँ। प्रभु नाम-स्मरण मेरी ढाल बन जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान व कर्म

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः॥४३॥

१. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा ज्ञानदीप्त प्रभो! हे **सवितः**=सत्कर्मों में सतत प्रेरित करनेवाले प्रभो! आप **पवित्रेण**=अद्भुत पवित्रता के जनक ज्ञान से तथा **सवेन**=(यज्ञः=सवः) यज्ञात्मक कर्मों से **उभाभ्याम्**=इन ज्ञान व कर्म दोनों से **मा**=मुझे **विश्वतः**=सब ओर से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी से सदा पवित्र करनेवाले हों। ये ज्ञान और कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों।

भावार्थ—ज्ञान व कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मैं पक्षी के समान हूँ तो ज्ञान व कर्म मेरे पंख हों। ये मुझे ऊपर ले-जानेवाले हों।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वैश्वदेवी-पुनती=देवी

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥४४॥

१. **वैश्वदेवी**=(विश्वेभ्यः देवेभ्यः आगता—द०) सब देवताओं के लिए प्राप्त होनेवाली अथवा सब देवों का हित करनेवाली 'तच्चक्षुर्देवहितम्'। वह वेदज्ञान जो देवों के लिए हितकर है अथवा देवों में जो निहित होता है। **पुनती**=हम सबको पवित्र करनेवाली, **देवी**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त यह वेदवाणी **आगात्**=हमें प्राप्त हो। स्पष्ट है कि यह वेदवाणी (क) देवों के लिए हितकर है, (ख) पवित्र करनेवाली है तथा (ग) ज्ञान के प्रकाश से युक्त है। २. **यस्याम्**=जिस वेदवाणी में **इमाः**=यह **बह्वीः तन्वः**= बहुत-से शरीर, अर्थात् कितने ही धीर पुरुष **वीतपृष्ठाः**=(वीतं कान्तं पृष्ठं येषां) कमनीय स्वरूपवाले हो जाते हैं। इस वेदवाणी के ज्ञानजल में धुलकर चमक उठते हैं अथवा जिस वेदवाणी में **इमाः**=ये **बह्वीः**=बहुत-सी **तन्वः**=(विस्तृतविद्याः—द०) विस्तृत विद्याएँ **वीतपृष्ठाः**=(विविधानि इतानि=विदितानि पृष्ठानि=प्रच्छनानि याभिस्ताः—द०) ज्ञात विविध प्रश्नोंवाली हैं, अर्थात् इस वेदवाणी में नाना विद्याओं का प्रश्नोत्तर रूप से प्रतिपादन हो गया है। ३. **तया**=वेदवाणी से **सधमादेषु**=(सहस्थानेषु—द० यज्ञस्थानेषु—म०) मिलकर एक जगह आनन्दपूर्वक बैठने के स्थानों में **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=पति **स्याम**=हों। हम धनों के स्वामी बने रहें, यह हमारा स्वामी न बन जाए। धन का हमारे जीवन में गौण स्थान हो।

भावार्थ—वेदवाणी 'वैश्वदेवी पुनती-देवी' है। इसमें स्नान कर शरीर का प्रक्षालन हो जाने से लोग चमक उठते हैं। इकट्ठे होने पर इसी की चर्चा करते हैं। धनों के कभी दास

नहीं बनते हैं।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यमराज्य में

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥४५॥

१. **ये**=जो हमारे **पितरः**=पिता-पितामह-प्रपितामह आदि **समानाः**=सुख-दुःख में समानवृत्तिवाले होते हैं, 'नित्यं च समचित्तकं, इष्टानिष्टोपपत्तिषु'=इष्ट-अनिष्ट प्राप्ति में समचित्त रहते हैं। जो शुभाशुभ को प्राप्त करके न तो हर्ष से फूलते हैं और न ही उदास हो जाते हैं। २. **समनसः**=(समानं मनो विज्ञानं येषां) और समान विज्ञानवाले होते हैं ३. **यमराज्ये**=जो यम के राज्य में निवास करते हैं, अर्थात् जो सदा नियन्त्रित जीवन बिताते हैं। ४. **तेषाम्**=उन्हें **लोकः**=उत्तम लोक व यश की प्राप्ति होती है, **स्वधा**=उन्हें आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न प्राप्त होता है, **नमः**=उनमें नमन की वृत्ति होती है। ५. उनका **यज्ञः**=सङ्ग **देवेषु**=दिव्य गुणों के उत्पादन में **कल्पताम्**=समर्थ हो। उनके सङ्ग से हममें भी दिव्य गुण उत्पन्न हों।

भावार्थ—१. 'पितर' शब्द से कहलाने योग्य व्यक्ति वे हैं जो (क) समचित्त—स्थितप्रज्ञ हैं। (ख) समान विज्ञानवाले हैं। (ग) नियन्त्रण के संसार में विचरते हैं, अर्थात् व्रती जीवनवाले हैं। २. इन पितरों को (क) उत्तम यश प्राप्त होता है। (ख) धारण के लिए आवश्यक अन्न दुर्लभ नहीं होता। (ग) इनमें नमन की वृत्ति होती है अथवा इन्हें सब नमस्कार करते हैं। ३. इनका सङ्ग हमें भी दिव्य गुणोंवाला बनाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्तम पैतृक संस्कार

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषाꣳश्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳसमाः॥४६॥

१. **ये**=जो **समानाः**=समान वृत्तिवाले—सब सन्तानों के साथ एक-जैसा बर्तनेवाले अथवा 'समानयन्ति' खूब उत्साहित करनेवाले, **जीवाः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाले, **जीवेषु**=जीवित प्राणियों में **मामकाः** =मुझमें ममत्ववाले मेरे पिता-पितामह व प्रपितामह हैं, २. **तेषाम्**=उनकी **श्रीः**=शोभा **मयि**=मुझमें **कल्पताम्**=सिद्ध हो, अर्थात् इनकी सब उत्तमताएँ पैतृक संस्कारों के रूप में मुझे प्राप्त हों। **अस्मिन् लोके**=इस संसार में **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त, अर्थात् पूर्ण जीवन में उनकी उत्तमताओं को मैं धारण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मुझे उत्तम पैतृक संस्कार प्राप्त हों। जीवित पितरों का जीवन मेरे जीवन के लिए आदर्श बने और मैं अपने जीवन को अधिकाधिक श्रीसम्पन्न बनाऊँ।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देवयान-पितृयाण

द्वे सृतीऽअशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥४७॥

१. **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के **अहम्**=मैंने **द्वे सृती**=दो मार्ग **अशृणवम्**=सुने हैं। एक तो

पितृणाम्=पितरों का मार्ग है, यही **पितृयाण** कहलाता है। इसमें मनुष्य उस-उस कामना से युक्त होकर अमुक-अमुक यज्ञ को करता है। उपनिषद् ने इसी मार्ग को **'प्रेयमार्ग'** कहा है। इस मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब इष्ट सम्पत्तियों को प्राप्त करते हैं। उनका जीवन बड़ा प्रिय-सा हो जाता है—उन्हें लौकिक सुखों की कमी नहीं होती। २. **उत**=और दूसरा मार्ग **देवानाम्**=देवों का है—उन पुरुषों का है जो देववृत्तिवाले हैं, जो देते हैं, ज्ञान से चमकते हैं औरों को भी ज्ञान देनेवाले होते हैं। उपनिषद् में इनका मार्ग **'श्रेयमार्ग'** है। पितृयाण 'कृष्ण' मार्ग था तो यह देवयान 'शुक्ल' मार्ग है। पितृयाण मार्ग में द्रविण आदि से उस मार्ग को 'कृष्ण' नाम दिया गया है। देवयान मार्ग में बुद्धि अनेकचित्त, विभ्रान्त नहीं होती—बुद्धि समाहित रहती है, अतः यह 'शुक्ल' मार्ग है। ३. **ताभ्याम्** =उन दो मार्गों से ही **इदम्**=यह **एजत्**=गतिशील **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार **यत्**=जोकि **पितरं मातरं च अन्तरा**=('असौ वै पितेयं माता—श० १२।८।१।२१) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में विद्यमान है, वह **समेति**=सम्यक्तया गति करता है, अर्थात् वे दो ही मार्ग हैं, जिनसे यह सारा संसार चलता है।

भावार्थ—इस संसार में मनुष्यों के लिए दो ही मार्ग हैं। १. ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था में 'पितृयाण' है, जिससे आगे चलकर सकाम यज्ञों को करते हुए हम अभ्युदय का साधन करते हैं तथा २. ज्ञान के परिपक्व होने पर मनुष्य 'देवयान' मार्ग से चलता है। इसमें उन्हीं यज्ञों को वे निष्काम होकर कर्त्तव्य बुद्धि से करते हैं और निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

हविः

इदं हविः प्रजननं मेऽअस्तु दशवीरꣳसर्वगणꣳस्वस्तये।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतोऽअस्मासु धत्त॥४८॥

१. गतमन्त्र के पितृयाण व देवयान मार्गों से चलनेवाले लोग सदा यज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाले होते हैं। यह यज्ञशेष को खाना ही 'हवि' कहलाता है। 'हु दानादनयोः' अर्थात् दानपूर्वक बचे हुए को खाना। **इदं हविः**=यह दानपूर्वक अदन **मे**=मेरे लिए **प्रजननं अस्तु**=प्रकृष्ट विकासवाला हो। हवि के द्वारा मेरी शक्तियों का उत्तम विकास हो। २. यह हवि **दशवीरम्**=(प्राणा वै दशवीराः प्राणानेवात्मन् धत्ते—श० १२।८।१।२२) मेरे सभी प्राणों का वर्धन करनेवाली हो। ३. **सर्वगणम्**=अङ्गनि वै सर्वे गणा अङ्गन्येवात्मन्धत्ते। —श० १२.८.१.१२) यह हवि मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को स्वस्थ बनानेवाली हो। ४. इस प्रकार यह हवि मेरे **स्वस्तये**=उत्तम कल्याण के लिए हो। ५. **आत्मसनि**=यह हवि मुझे आत्मशक्ति सम्पन्न करनेवाली हो। ६. **प्रजासनि**=उत्तम सन्तान देनेवाली हो। ७. **पशुसनि**=ये मेरे लिए उत्तम गवादिक पशुओं को प्राप्त करानेवाली हो। ८. **लोकसनि**=यह मेरे इस लोक को उत्तम बनाये। ९. **अभयसनि**=यह मुझे **अभयपद**=ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली हो। १०. मेरी हवि खाने की वृत्ति के कारण **अग्निः**=मेरी उन्नति का साधक प्रभु **मे प्रजाम्**=मेरी सन्तान को **बहुलां करोतु**=प्रवृद्ध व उन्नत—फूला-फला **करोतु**=करे। मेरी सन्तान में भी इस हवि की वृत्ति उत्पन्न हो। मेरी सन्तान भी अपनों में बहुतों का समावेश करनेवाली हो (बहून् लाति)।

११. इस 'हवि' के परिणामस्वरूप ही आप **अस्मासु**=हममें **अन्नं पयः**=अन्न और दूध को **धत्त**=धारण कीजिए और इस अन्न व दूध के द्वारा आप **अस्मासु**=हममें **रेतः**=शक्ति का आधान कीजिए।

भावार्थ—मैं हविवृत्ति बनूँ, देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। यह हवि मेरा विकास करे—मेरे प्राणों की शक्ति को बढ़ाए, मेरे सब अङ्गों को सबल करे, मेरे लिए कल्याणकर हो, मुझे आत्मिक शक्ति दे, उत्तम प्रजा को प्राप्त कराए, उत्तम पशु-धनवाला बनाए, मेरा लोक उत्तम हो, अर्थात् मैं यशस्वी बनूँ और अन्त में अभयपद प्राप्त करूँ। इस हवि से मेरी प्रजा भी बहुल हो। हवि के परिणामस्वरूप ही मैं अन्न, दूध व इनके द्वारा शक्ति को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञानवाला

उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं यऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥४९॥

१. गतमन्त्र का वैखानस ऋषि हवि के द्वारा सब प्राणों को उत्तम बनाकर **'शंख'**=उत्तम, शान्त इन्द्रियोंवाला बनता है। (शं-ख)। यह प्रार्थना करता है कि **अवरे**=सबसे अर्वाचीन काल में होनेवाले मेरे पिता **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा दें। **उत्**=और **परासः**=सुदूर काल में होनेवाले मेरे प्रपितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले हों। **उत्**=और **मध्यमाः**=इन दोनों के मध्य में होनेवाले मेरे पितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराएँ। २. ये सब **पितरः**=मेरा पालन करनेवाले पिता-पितामह व प्रपितामह, **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अथवा सोम का सम्पादन करनेवालों में उत्तम हैं। ये अपनी शक्ति का व्यर्थ में अपव्यय नहीं होने देते और इसलिए ३. ये वे हैं **ये**=जो **असुं ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं। सोमरक्षण से इनकी प्राणशक्ति स्थिर रहती है। इस प्राणशक्ति की स्थिरता से ये स्वस्थ व दीर्घजीवी होते हैं। ४. **अवृकाः**=(वृक आदाने) ये वे हैं जिन्हें धन के आदान का लोभ नहीं है। इस धनलोभ के न होने से ये सब वासनाओं से ऊपर उठे हुए हैं। लोभ ही तो वासनावृक्ष का मूल है। उसके अभाव में इनका जीवन व्यसनों से ऊपर उठा हुआ है। ५. **ऋतजाः**=ये ऋत के ज्ञानवाले हैं, इन्हें सब सत्य ज्ञान प्राप्त है। इनका मस्तिष्क इस सत्यज्ञान से चमक रहा है। ६. **ते पितरः**=वे पितर **नः**=हमें **हवेषु**=जब-जब हम इन्हें पुकारें—आमन्त्रित करें उस-उस पुकारने के समय पर **अवन्तु**=रक्षित करें। उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराके ये हमारे जीवनों को सन्मार्ग पर लानेवाले हों।

भावार्थ—पिता-पितामह व प्रपितामह सभी हमें समय-समय पर उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त कराके अपने क्रियात्मक उदाहरण से स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञान-परिपूर्ण बनने के लिए उत्साहित करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुमति-सौभद्र मन

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयꣳसुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥५०॥

१. **नः**=हमारे **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह **अंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले

हैं। बड़े स्वस्थ हैं, पूर्व मन्त्र के शब्दों में प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं। २. **नवग्वा**=अतएव नवम दशक तक ९०-१०० साल के आयुष्य तक जानेवाले हैं, अथवा **नवा ग्वा**=नवमी व स्तोतव्य गतिवाले हैं, इनका आचरण अत्यन्त प्रशस्य है। ३. **अथर्वाणः**=(न थर्वतिः=चरतिकर्मा) स्तुतिनिन्दा, लाभालाभ व जीवन-मृत्यु के कारण नीतिमार्ग से कभी भी विचलित होनेवाले नहीं। ४. **भृगवः**=अपने ज्ञान को परिपक्व करनेवाले हैं ५. परिणामतः **सोम्याः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं। ६. **वयम्**=हम **तेषाम्**=उन **यज्ञियानाम्**=(यज्ञे हिताः) सदा उत्तम कर्मों में लगे हुए पितरों की **सुमतौ**=कल्याणी बुद्धि में **स्याम**=हों। उनकी प्रेरणाएँ व उनका जीवन हमें उत्तम प्रेरणाएँ दे, हमें सद्बुद्धि प्राप्त कराए। **अपि**=और हम सदा **भद्रे**=कल्याणकारक **सौमनसे**=शोभन मनस में, मन की उत्तम स्थिति में **स्याम**=निवास करें। हमारा मन सदा सुप्रसन्न हो। उसमें किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेषादि मलों का सम्भव न हो तथा हम सदा सभी के कल्याण की कामना करें, हमारा मन अभद्र न हो।

भावार्थ—पितरों की विशेषताएँ ये हैं—वे स्वस्थ हैं (अङ्गिरसः), सदाचारी हैं (नवग्वाः), स्थिरवृत्ति के हैं (अथर्वाणः), सद्ज्ञान से परिपक्व विचारोंवाले हैं (भृगवः) तथा सौम्य (विनीत) हैं। हम सब इन पितरों की सुमति व सौमनस में स्थित हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सात्त्विक भोजन

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥५१॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, हमसे पहले काल में होनेवाले **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह हैं जो **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाववाले हैं, और **वसिष्ठाः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाले, अधिक-से-अधिक पूर्ण **सोमपीथम्**=सोम के पान को **अनु+उहिरे**=प्रतिदिन धारण करते हैं, २. **तेभिः**=उन पितरों के साथ **संरराणः**=(संप्रियमाणः) प्रीति व आनन्द का अनुभव करता हुआ **यमः**=नियन्त्रित जीवनवाला सन्तान **हवींषि**=दानपूर्वक अदन को, यज्ञशेष को **उशन्**=चाहता हुआ **उशद्भिः**=चाहते हुए पितरों के साथ **प्रतिकामम्**=शरीर की चाहना—आवश्यकता (want) के अनुसार **अत्तु**=खाये। ३. यहाँ भोजन के विषय में निम्न बातें सुव्यक्त हैं—(क) वही भोजन खाना है जिसकी शरीर को आवश्यकता हो (प्रतिकामम्), 'यह मकान मरम्मत चाहता है' इस वाक्य में चाहना की जो भावना है, वही 'प्रतिकाम' शब्द में निहित है। शरीर को जिस भोजनांश की आवश्यकता है वही भोजनांश इसे प्राप्त कराना चाहिए। (ख) भोजन को प्रसन्नतापूर्वक खाना चाहिए (उशन्)। प्रसन्नतापूर्वक खाया गया भोजन ही रुधिरादि उत्तम धातुओं को उत्पन्न करता है, अन्यथा कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं, जो रोगों व अकालमृत्यु के कारण बनते हैं। (ग) हमारा भोजन सदा यज्ञशेष ही हो। देकर बचे हुए को ही खाना है (हवींषि)। अकेला खानेवाला पाप का ही सेवन करता है। (घ) 'यमः' यह कर्तृपद इस बात की सूचना भी देता है कि भोजन वही करना चाहिए जो संयम के अनुकूल हो। उत्तेजक भोजन हमारी वृत्ति को असंयत बनानेवाले हैं, अतः त्याज्य हैं।

भावार्थ—हम भोजन वह करें, जिसकी शरीर को आवश्यकता है। उसे सदा प्रसन्नतापूर्वक ही खाएँ। हमारा भोजन यज्ञशेष हो, हविरूप हो। उत्तेजक भोजनों से हम बचने का प्रयत्न करें। सदा सोम का पान करनेवाले, शक्ति की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आचार्य व माता-पिता

त्वꣳसो॑म प्रचि॑कितो मनी॒षा त्वꣳर॑जिष्ठ॒मनु॑ नेषि॒ पन्था॑म्।
तव॒ प्रणी॑ती॒ पि॒तरो॑ नऽइन्दो दे॒वेषु॒ रत्न॑मभजन्त॒ धीराः॑॥५२॥

१. हे **सोम**=सौम्यगुणयुक्त आचार्य! शान्तस्वभाव विद्वन्! **त्वम्**=आप **प्रचिकितः**=प्रकृष्ट चेतनावाले हैं, बड़े समझदार व ज्ञानी हैं। २. **त्वम्**=आप **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **रजिष्ठम्**=अत्यन्त ऋजुतम **पन्थाम्**=मार्ग को **अनुनेषि**=हमें अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं, बड़ी कुशलता से हमें छल-छिद्र से दूर सरलता के मार्ग पर ले-चलते हैं। ३. **तव प्रणीती**=आपके प्रणयन (guidence) से ही हे **इन्दो**=हे शक्ति व ज्ञान के परमैश्वर्य से सम्पन्न आचार्य! **नः**=हमें **पितरः**=पितर लोग जो **धीराः**=(धीमन्तः—उ०, ध्यानवन्तो वा—द०) बुद्धिमान् व ध्यानवाले हैं, वे **देवेषु**=विद्वानों के सम्पर्कों में **रत्नम् अभजन्त**=रमणीय बातों का भागी बनाते हैं। ३. आचार्य (क) **सोम**=शान्त है, (ख) **इन्दु**=शक्तिशाली व ज्ञान के परमैश्वर्यवाला है (ग) प्रकृष्ट चेतनावाला, बड़ा समझदार व ऊँचे नामवाला है। (घ) बुद्धिपूर्वक सरलतम मार्ग से विद्यार्थियों को उन्नति-पथ पर ले-चलता है। ४. पितर (क) धीर हैं, बुद्धिमान् हैं, ध्यानवाले व धैर्यवाले हैं—बड़े धैर्यपूर्वक सन्तानों के जीवन-निर्माणरूप कार्य में लगे रहते हैं। (ख) आचार्यों के निर्देशों का बड़ा ध्यान करते हैं। आचार्यों को संरक्षकों की सहकारिता प्राप्त होने पर ही सन्तानों का निर्माण हुआ करता है। (ग) ये अपने सन्तानों को सदा दैवीवृत्तिवाले पुरुषों के सम्पर्क में लाने का ध्यान करते हैं और (घ) इस सज्जनसङ्ग से उनमें रमणीय गुणों का आधान कराते हैं।

भावार्थ—आचार्य व पितर मिलकर युवक सन्तानों में रमणीय गुणों का आधान कराएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कर्मशील-विजेता

त्वया॒ हि नः॑ पि॒तरः॑ सोम॒ पूर्वे॑ कर्मा॑णि च॒क्रुः प॑वमान॒ धीराः॑।
व॒न्वन्नव॑ातः परि॒धीँ॑१॥ऽरपो॑र्णु वी॒रेभि॒रश्वै॒र्मघ॑वा॒ भवा॑ नः॥५३॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन्! आचार्य! **नः**=हमारे **पूर्वे**=हमसे पूर्व काल में होनेवाले **धीराः**=धीमान् व ध्यानवान्, धैर्यशाली **पितरः**=पितर **हि**=निश्चय से **त्वया**=तुझसे, अर्थात् आपके निर्देशों के अनुसार **कर्माणि चक्रुः**=कर्मों को करते थे। हमारे पितर अपने आचार्यों के कहने के अनुसार कर्मों को करनेवाले हुए। हमें भी उसी मार्ग को अपनाकर आचार्य-निर्देशों पर ही चलना चाहिए। २. हे **पवमान**=अपने जीवन को पूर्ण पवित्र करनेवाले आचार्य! **वन्वन्**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले (वन्=to injure) अथवा वासनाओं को पराजित करनेवाले (to conquer) आचार्य! **अवातः**=स्वयं सभी उपद्रवों से अहिंसित होता हुआ तू **परिधीन्**=हमारे चारों ओर स्थित हुए-हुए इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं को **अपोर्णु**=हमसे दूर आच्छादित कर। ये शत्रु हम तक पहुँचनेवाले न हों। इन शत्रुओं से बचाकर आप हमें भी अपनी भाँति 'पवमान'=पवित्र व 'वन्वन्' (win) विजेता बनाइए। ३. इन वासनाओं से बचाकर **वीरेभिः अश्वैः**=वीरता से युक्त—शक्तिसम्पन्न इन्द्रियरूप अश्वों से आप **नः**=हमारे लिए **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले **भव**=होओ। आपकी कृपा से हम इन शक्तिशाली इन्द्रियों के द्वारा (मघ=मख) उत्तमोत्तम यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—१. हम आचार्यों के निर्देशों के अनुसार कर्मों को करनेवाले हों। २. वासनाओं का पराजय करें ३. शक्तिसम्पन्न इन्द्रियों से यज्ञात्मक कर्मों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

शिक्षा का दृष्टिकोण

त्वꣳसोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवीऽआ ततन्थ।
तस्मै तऽइन्दो हविषा विधेम वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥५४॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन् आचार्य! **त्वम्**=आप **पितृभिः**=मेरे संरक्षकों के साथ **संविदानः**=सम्यक् ऐकमत्यवाले होते हुए—संज्ञानवाले होते हुए **द्यावापृथिवी अनु**=मस्तिष्क व शरीर का लक्ष्य करके **आततन्थ**=मेरी शक्तियों का विस्तार कीजिए। आचार्य व माता-पिता ने परस्पर विचार करके एक मतिवाला होकर विद्यार्थियों के जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना है। उनके सब प्रयत्नों व कर्मों का लक्ष्य यही हो कि इनके ज्ञान का विकास हो तथा इनके शरीर स्वस्थ बनें। जैसे यह द्युलोक बड़ा उग्र व तेजस्वी है, उसी प्रकार इनके मस्तिष्करूप द्युलोक भी ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों से देदीप्यमान हों तथा जैसे यह पृथिवी दृढ़ है, इसी प्रकार इनका यह शरीर दृढ़ हो, पत्थर के समान पक्का हो। इनको 'ज्ञान से दीप्त, शरीर से दृढ़' बनाना ही इनका लक्ष्य हो। २. हे **इन्दो**=ज्ञान के परमैश्वर्य-वाले आचार्य! **तस्मै ते**=उस तेरे लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन करते हुए हम **विधेम**=पूजा करनेवाले हों। हमारी इस हविर्वृत्ति से आपका यश चारों ओर फैले। हमारे जीवन की यह वृत्ति आपके यश को फैलानेवाली हो कि इन शिष्यों को अमुक आचार्य ने शिक्षित किया है। ३. आपके शिक्षण का हमारे जीवन में यह परिणाम हो कि **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=स्वामी न कि दास **स्याम**=हों। इस संसार में हम कभी भी धन के दास न बन जाएँ। धन के दास बने और हमारी यज्ञशेष को खाने की वृत्ति नष्ट हुई और इस प्रकार उत्पन्न हुई-हुई स्वार्थपरता हमें धर्मशून्य बना देगी। हमारी धर्मशून्यता आपके भी अपयश का कारण बनेगी।

भावार्थ—आचार्य व माता-पिता का प्रयत्न हमें ज्ञानोज्ज्वल व स्वस्थ-शरीरवाला बनाए। हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठे रहें, कभी धन के दास न बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बर्हिषद् पितरों का स्वागत

बर्हिषदः पितरऽऊत्यूर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
तऽआ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥५५॥

१. **बर्हिषदः**=पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले **पितरः**=पितरो! **ऊती**=रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**=यहाँ—हमारे समीप **आगता**=आइए। २. **वः**=आपके लिए **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों को **चकृम**=सिद्ध किया है। **जुषध्वम्**=आप उनका प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। ३. पिता-पितामह व प्रपितामह जब वानप्रस्थ को जाते हैं तब उनका मुख्य उद्देश्य हृदयों को राग-द्वेषादि मलों से रहित करने का होता है। वे हृदय को वासनाशून्य करने के लिए सतत प्रयत्न में लगे होते हैं। वे हृदय को 'बर्हि' बना रहे होते हैं, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। ये वानप्रस्थ अब 'शंख'=शान्त इन्द्रियोंवाले बने हैं। ये हमारे कल्याण व रक्षण के लिए समय-समय पर आते हैं और उत्तम प्रेरणाओं के द्वारा हमें

परस्पर कलह से नष्ट हो जाने से बचाते हैं। इनके आने पर हम इनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को तैयार करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे प्रीतिपूर्वक उन पदार्थों का सेवन करें। ४. **ते**=वे प्रायः **शन्तमेन**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले **अवसा**=रक्षणादि कर्मों के साथ **आगता**=आएँ। आपके आने से हमारे घर का वातावरण अत्यन्त शान्तिवाला बने और हम अपने धनों को वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। ५. **अथ**=अब **नः**=हममें **शंयोः**=(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्–यास्क) रोगों के शमन को तथा भयों के यावन–दूरीकरण को **दधात**=धारण कीजिए। वासनाओं से अपने को बचाकर हम नीरोग व निर्भीक हों। शरीर में व्याधि न हो तो मन में आधि न हो। शरीर में (disease) न हो, मन में बेचैनी (uneasiness) न हो। आप हममें **अरपः**=निष्पापता को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—हम समय-समय पर पितरों को आमन्त्रित करें। वे हमारे रक्षण के लिए हमारे समीप आने की कृपा करें। हम उनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। उनकी उत्तम प्रेरणाओं से हमारी व्याधियाँ व आधियाँ दूर हों और हम निष्पाप बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुविदत्र पितर

आहं पितृन्त्सुविदत्राँ२॥ऽअवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तऽइहागमिष्ठाः॥५६॥

१. **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान से रक्षा करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को—ज्ञानदाता आचार्यों को **अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ, अर्थात् मुझे 'सुविदत्र' आचार्यों का सङ्ग सदा प्राप्त होता रहे। २. उन आचार्यों से मैं **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **नपातं च**=कभी भी नष्ट न होनेवाले, फिर भी **विक्रमणं च**=विविध क्रमणों को—इस वैविध्य से युक्त सृष्टि के क्रम को **आ अवित्सि**=सब प्रकार से समझने का प्रयत्न करूँ। किस प्रकार यह 'सृष्टि-प्रलय' का क्रम अनादिकाल से कभी नष्ट न होता हुआ चलता है। ३. **बर्हिषदः**=वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाले, अर्थात् जिनका मुख्य लक्ष्य हृदय को वासनाशून्य बनाना है, ये जो **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले, उत्तम सात्त्विक अन्न के साथ **सुतस्य**=अभिषुत—उत्पन्न किये हुए **पित्वः**=(सुगन्धिपानस्य—द०) सुगन्धियुक्त पेय-रस का **भजन्ते**=सेवन करते हैं, अर्थात् जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है, **ते**=वे पितर **इह**=यहाँ हमारे घरों पर **आगमिष्ठाः**=आएँ, हमें उनका सम्पर्क प्राप्त हो।

भावार्थ—हमें उन पितरों का, ज्ञानप्रद आचार्यों का सम्पर्क सदा प्राप्त हो जो हमें इस अविनाशी सृष्टि-प्रलय-चक्र का ज्ञान देनेवाले हों और जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है। उत्तम ज्ञान देकर ये हमारा त्राण करते हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोम्य पितर

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
तऽआ गमन्तु तऽइह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५७॥

१. **बर्हिष्येषु**=(बर्हिषु उत्तमेषु—द०) हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम **प्रियेषु**=तृप्ति व कान्ति देनेवाले **निधिषु**=ज्ञानकोशों के होने पर **सोम्यासः**=जो अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अर्थात् जिन्हें उत्तम ज्ञान ने अत्यन्त विनीत बनाया है, **वे पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्य

उपहूताः=हमसे आमन्त्रित किये गये हैं। २. हमारे 'पिता, पितामह, प्रपितामह' स्वस्थ होकर **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** सदा स्वाध्याय में लगे रहे और उन्होंने उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त किया जो ज्ञान उन्हें हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम सहायक सिद्ध हुआ। यही ज्ञान उनका प्रियनिधि बना। इस ज्ञान ने उन्हें सौम्य मनोवृत्ति प्रदान की। इन ज्ञानप्रद पितरों को हम समय-समय पर आमन्त्रित करते हैं। ३. आमन्त्रित किये हुए **ते**=वे पितर **आगमन्तु**=आएँ, **ते**=वे **इह**=यहाँ—हमारे घरों पर आकर **श्रुवन्तु**=हमारी समस्याओं को सुनें और **ते**=वे **अधिब्रुवन्तु**=उन समस्याओं को सुलझाने के लिए आधिक्येन उपदेश दें और इस प्रकार **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम भी उनसे 'बर्हिष्य प्रियनिधि' को प्राप्त करनेवाले बनें और इस संसार में न उलझते हुए जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—उत्तम सात्त्विक ज्ञान से हृदयों को निर्वासन बनानेवाले सौम्य पितर हमसे आमन्त्रित होकर यहाँ आएँ और हमें अपने सदुपदेशों से प्रीणित करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्निष्वात् पितर

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५८॥

१. **अग्निष्वात्ताः**=(गृहीताग्निविद्याः—द०) जिन्होंने अग्निविद्या का ग्रहण किया है। यहाँ अग्नि शब्द 'पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों के मध्य में स्थित हुआ पाँचों भूतों की विद्या का संकेत कर रहा है। एवं, अग्निष्वात्त पितर वे हैं जिन्होंने सब भूतों के विज्ञान का सम्यक् अध्ययन किया है, जीवन को सुन्दर व स्वस्थ बनाने के लिए सब भूतों का विज्ञान आवश्यक ही है। **सोम्यासः**=जो पितर अत्यन्त सौम्य व शान्त स्वभाव के हैं। **पथिभिः देवयानैः**=और अब देवयान मार्गों से जीवन के कार्यक्रम को चला रहे हैं। वे **पितरः**=पितर **नः आयन्तु**=हमारे समीप आमन्त्रित होकर आएँ। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस यज्ञरूप जीवन में **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले सात्त्विक ज्ञान से **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **अधिब्रुवन्तु**=हमें खूब उपदेश दें और अपने इन ज्ञानपूर्ण उपदेशों से **अस्मान् अवन्तु**=हमें सुरक्षित करें। उन उपदेशों से हमें ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि हम अपने जीवनों को वासना से बचानेवाले बनें। वासनाओं से ऊपर उठकर अपने जीवन को नाश से बचा पाएँ।

भावार्थ—पदार्थविज्ञान में निपुण, देवयान-मार्ग से चलनेवाले ज्ञानी आचार्य हमें वह ज्ञान दें जो ज्ञान हमें इस जीवन में वासनाओं से सुरक्षित करे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

सुप्रणीतयः—उत्तम प्रणयन करनेवाले

अग्निष्वात्ताः पितरऽएह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवीꣳषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳसर्ववीरं दधातन॥५९॥

१. हे **अग्निष्वात्ताः**=अग्नि आदि पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण करनेवाले **पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्यो! **इह आगच्छत**=आप यहाँ—हमारे घरों पर आइए। २. **सदः सदः**=प्रत्येक सभा में **सुप्रणीतयः**=उत्तम, प्रकृष्ट नीतिवाले आप **सदत**=अपना स्थान ग्रहण कीजिए। जब-जब हमारी कोई भी सभा हो तब-तब उसमें ये ज्ञानी आचार्य सभापति पद

का आसन ग्रहण करके हमारी उस सभा का सुप्रणयन (सञ्चालन) करें। ३. हमसे **प्रयतानि**=प्रयत्नपूर्वक सिद्ध की हुई अथवा पवित्र **हवींषि**=हव्य—सात्त्विक पदार्थों को **अत्त**=आप खाइए, अर्थात् हम इन आमन्त्रित ज्ञानी आचार्यों के लिए पवित्र सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करानेवाले हों। वे इन अन्नों को स्वीकार करें। ४. **अथ**=और अब **बर्हिषि**=हृदय के निर्वासन होने पर **सर्ववीरम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वीरता व शक्ति का आधान करनेवाले **रयिम्**=धन को **दधातन**=हममें धारण कीजिए। ये पितर वस्तुतः इस प्रकार के नीतिमार्ग का उपदेश देते हैं कि उसपर चलते हुए हम हृदय में उत्पन्न होनेवाली वासनाओं के शिकार नहीं होते और इस प्रकार अपने अङ्गो को वीरतापूर्ण बना पाते हैं।

भावार्थ—हम विज्ञान में निपुण पितरों के सदुपदेशों से सुनीति के मार्ग पर चलते हुए वासनाओं को जीतें और अपने प्राणों को सबल बनाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रकृतिवित् व ब्रह्मवित् (Physics and Mataphysics) का पण्डित

येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥६०॥

१. **ये**=जो पितर **अग्निष्वात्ताः**=(सम्यग्गृहीताग्निविद्याः) अग्नि आदि भौतिक पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण कर चुके हैं तथा **ये**=जो **अनग्निष्वात्ता**=अग्न्यादि से भिन्न—इन अग्न्यादि के भी प्रकाशक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् अग्निष्वात्त भौतिकी के पण्डित हैं, तो अनग्निष्वात्त सब भूतों से पर ब्रह्मविद्या के वेत्ता हैं, २. जो विद्वान् पिता **दिवः मध्ये**=सदा प्रकाश में विचरण करते हैं और **स्वधया**=आत्मज्ञान के धारण करानेवाले, सात्त्विक अन्न से **मादयन्ते**=हर्ष का अनुभव करते हैं और जिन्हें शुद्ध, सात्त्विक आहार रुचिकर होता है, ३. **तेभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान प्रभु **एताम्**=इस **असुनीतिम्**=प्राणों की नीति को, प्राणशक्ति के वर्धन की योग्यता को **कल्पयाति**=सिद्ध करता है और इस असुनीति के द्वारा **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयाति**=समर्थ करता है, अर्थात् इन्हें वह इस योग्य बनाता है कि ये जितनी देर चाहें, शरीर को धारण कर सकें। एवं, इन्हें यह असुनीति 'मृत्युञ्जय' बना देती है।

भावार्थ—प्रकृतिविज्ञान व ब्रह्मज्ञान में निपुण ज्ञानी लोग प्रभु से प्राप्त असुनीति=प्राणविद्या को हमें भी प्राप्त कराएँ, जिससे हम अपने जीवनों को तदनुसार चलाते हुए दीर्घ बना पाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

नाराशंस में सोमपान

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं यऽआशुः।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥६१॥

१. **अग्निष्वात्तान्**=ग्रहण की है अग्नि आदि पदार्थों की विद्या जिन्होंने उन **ऋतुमतः**=प्रशस्त ऋतुओंवाले, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार दिनचर्यावाले पितरों को हम **नाराशंसे**=नरसमूह के लिए आशंसनीय =प्रशस्त धर्मों को करने के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। २. हम उन पितरों को पुकारते हैं **ये**=जो **सोमपीथम्** =सोम के पान को **आशुः**=(अश्नन्ति) खाते हैं। सोमपान करनेवाले पितर ही स्वस्थ रहकर नरों के लिए हितकर कार्यों के करनेवाले होते हैं। ३. **ते विप्रासः**=विशेषरूप से अपना पूर्ण करनेवाले पितर **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से

आमन्त्रित करने योग्य **भवन्तु**=हों और इनके उपदेशों को सुनकर तथा इनसे प्रेरणा प्राप्त करके **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=सदा पति ही बने रहें, हम कभी धन के दास न बन जाएँ। धन को साधन के रूप में देखते हुए हम भी (क) अग्निष्वात्त बनने का प्रयत्न करें—उत्कृष्ट ज्ञानी बनें, पदार्थविद्या का खूब अध्ययन करें। (ख) ऋतुमान बनें, ऋतुओं के अनुकूल हमारी दिनचर्या हो। (ग) नरहित के लिए प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। (घ) सोमपान से शक्ति की रक्षा का पूरा ध्यान करें।

भावार्थ—हम अग्नि आदि सब पदार्थों के विज्ञान में कुशल बनकर ऋतु के अनुसार भोजनादि क्रियाओं को करते हुए नरहित के प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। इस नाराशंस के निमित्त सोमपान करें, अर्थात् शरीर में सोम की रक्षा करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञोपदेश

आच्या॒ जानु॑ दक्षिण॒तो नि॒षद्येमं य॒ज्ञम॒भि गृ॑णीत॒ विश्वे॑।
मा हिꣳसिष्ट पितरः॒ केन॑ चिन्नो॒ यद्व॒ऽआग॑ः पुरु॒षता॒ करा॑म॥६२॥

१. **आच्याजानु**=घुटनों को परस्पर मिलाकर और **दक्षिणतः निषद्य**=दाहिनी ओर बैठकर **विश्वे**=हे पितरो! आप सब **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का **अभिगृणीत**=उपदेश दो। २. इन उपदेशों को सुननेवाले युवक सन्तान निवेदन करते हैं कि **पुरुषता**=मनुष्य होने के नाते, अर्थात् अल्पज्ञता के कारण स्खलनशील होने से (To err is human) **वः**=आपके विषय में **यत् आगः**=जो अपराध **कराम**=कर बैठें, उस ऐसे **केनचित्**=किसी अपराध से हे **पितरः**=पितरो! आप **नः**=हमें **मा हिंसिष्ट**=हिंसित मत कीजिए। आपके प्रति व्यवहार में जो कमी-बेशी (अतिरिक्तता व न्यूनता) रह गई हो उसके लिए आप हमें क्षमा करना।

भावार्थ—उपहूत पितर हमसे समादृत होकर हमें उत्तम कर्मों का उपदेश दें और हमारे व्यवहार में अज्ञानवश रह गई कमी को क्षमा करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रातःकाल का स्वाध्याय

आसी॑नासोऽअरु॒णीना॑मु॒पस्थे॑ र॒यिं ध॑त्त दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य।
पु॒त्रेभ्य॑ः पितर॒स्तस्य॒ वस्वः॒ प्र य॑च्छत॒ तऽइ॒होर्ज॑ं दधात॥६३॥

१. (क) **अरुणीनाम्**=प्रातःकाल की अरुण किरणों की **उपस्थे**=गोद में **आसीनासः**=बैठे हुए, अर्थात् प्रातः सूर्योदय की प्रथम किरणों को अपने शरीर पर लेते हुए आप **दाशुषे मर्त्याय**=आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के प्रति **रयिं धत्त**=ज्ञानधन का धारण कीजिए। (ख) **अरुणीनाम्**-(गवाम्-वेदवाचः)-शब्द का अर्थ गौवें व वेदवाणियाँ भी है, अतः अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि ज्ञान की वाणियों में स्थित हुए-हुए आप मुझ शरण में आये हुए के लिए ज्ञानधन दीजिए। २. हे **पितरः**=ज्ञान द्वारा रक्षण करनेवाले पितरो! **पुत्रेभ्यः**=हम पुत्रों के लिए **तस्य वस्वः**=इस निवास को उत्तम बनाने के लिए उपयोगी ज्ञानधन का **प्रयच्छत**=दान कीजिए। **ते**=और वे आप **इह**=इस जीवन में हमारे लिए **ऊर्जं दधात**=बल व प्राणशक्ति को धारण करिए। आपसे निवास के लिए उपयोगी ज्ञानधन को प्राप्त करके, तदनुसार अपना आहार-विहार करते हुए हम अपने अन्दर ऊर्जा धारण करनेवाले बनें। आपकी भाँति हम भी ज्ञान की किरणों में निवास करनेवाले हों और

ज्ञानवृद्धि के द्वारा जीवन को उत्तम व संयत बनाकर अपने बल को क्षीण न होने दें।

भावार्थ—ज्ञान की किरणों में ही निवास करनेवाले ज्ञानी पितरों से ज्ञान प्राप्त करके हम बल व प्राणशक्ति का धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देव-विषयक ज्ञान

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥६४॥

१. 'कविषु भवं कव्यम्' क्रन्तदर्शी पुरुषों में होनेवाले ज्ञान को यहाँ 'कव्य' कहा गया है। 'कौति सर्वा विद्याः' जो ज्ञान सब विद्याओं का उपदेश देता है वह, वेदज्ञान ही 'कव्य' है। हे **अग्ने**=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य! **कव्यवाहन**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान को धारण करनेवाले आचार्य! **त्वम्**=आप **यम् चित् रयिम्**=जिस भी ज्ञानधन को **मन्यसे**=उत्तम समझते हैं, **तत्**=उस **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **श्रवाय्यम्**=सुननेयोग्य **देवत्रा**=सब देवों के विषय में दिये गये, अर्थात् जिस ज्ञान में प्रकृत्ति से बने तेतीस देवों का तथा चौंतिसवें महादेव का ज्ञान दिया गया है, उस **युजम्**=अन्त में मुझे उससे युक्त करनेवाले ज्ञान को **पनया**=(देहि) दीजिए।
२. आचार्य मुझे वह ज्ञान दें जिस ज्ञान को वे मेरे लिए ठीक समझते हैं। मुझे आचार्य कृपा से वह ज्ञान प्राप्त हो, जो वेदवाणियों में प्रभु की ओर से दिया गया है, जो ज्ञान सब देवों का प्रतिपादन करता है और जिस ज्ञान से मैं अपना सम्बन्ध उस प्रभु से बना पाता हूँ।

भावार्थ—आचार्यों से प्रकृति के सब देवों का ज्ञान प्राप्त करके, इनमें उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ मैं उस प्रभु से अपना सम्बन्ध बना पाऊँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

कव्य+हव्य

योऽअग्निः कव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्यऽआ॥६५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी भी ज्ञानी बना है। '**अग्निनाग्निः समिध्यते**'=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य से विद्यार्थी में भी ज्ञानाग्नि समिद्ध की जाती है, आचार्य अग्नि से विद्यार्थी भी अग्नि बना है। आचार्य 'कव्यवाहन' था, विद्यार्थी भी कव्यवाहन बना है। **यः**=जो भी **अग्निः**=ज्ञानाग्नि से दीप्त हुआ **कव्यवाहनः**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान का धारण करनेवाला ज्ञानी सन्तान है, वह **ऋतावृधः**=सत्यज्ञान से वृद्ध अथवा सत्य व उससे बढ़े हुए **पितॄन्**=ज्ञान द्वारा रक्षक इन पितरों का **यक्षत्**=(यज् पूजा) सत्कार करता है, इनके साथ अपना सम्पर्क बनाता है (यज् सङ्गतिकरण), इनके प्रति अपना अर्पण करता है (यज् दान)। २. **इत् उ**=और अब इन **देवेभ्यः**=ज्ञान को देनेवाले अथवा ज्ञान से देदीप्यमान **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के प्रति **आ**=आकर (आगत्य) **हव्यानि**=ग्रहण करने योग्य विज्ञानों को **प्रवोचति**=अच्छी प्रकार कहता है, अर्थात् सारा प्राप्त किया ज्ञान उन्हें सुनाता है। मन्त्र २४ में कहा था कि 'प्रत्याश्रवोऽनुरूपः' पढ़े पाठ को फिर से सुना देनेवाला आचार्य के अनुरूप ही बन जाता है। यहाँ वही भावना 'प्रेदु हव्यानि वोचति' से कही है। धारण किया हुआ ज्ञान 'कव्य' था। उसी ज्ञान को सुनाने का प्रसंग आया तो वही ज्ञान 'हव्य' हो गया। आचार्य विद्यार्थी के प्रति 'कव्य' का वहन करता

है। विद्यार्थी 'कव्यवाहन' बनकर इसी ज्ञान का जब आचार्यों के प्रति प्रत्याश्रावण करता है तब 'हव्य' का प्रबन्धन कर रहा होता है।

भावार्थ—हम आचार्यों से **कव्य**=सब सत्यविद्याओं के प्रतिपादक ज्ञान को ग्रहण करें। इसे आचार्यों को सुनाकर सब प्रजाओं में उस ज्ञान को देनेवाले बनें। हमारा 'कव्य' 'हव्य' हो जाए, प्रजाओं में आहुति के योग्य हो जाए।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उतना ही जितना आवश्यक

त्वमग्नऽईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया तेऽअक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवीꣳषि॥६६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब शिष्य आचार्य से सुने हुए पाठ को फिर से सुना देता है तब वह आचार्य के समान ही कव्य का वहन करनेवाला हो जाता है। यह 'कव्यवाहन' कहलाता है, क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान को धारण करनेवाला। मन्त्र में इसके लिए कहते हैं, कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील व ज्ञान से अग्नि के समान चमकनेवाले! **कव्यवाहन**=क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान का वहन करनेवाले! **त्वम्**=तू **ईडितः**=(ईडितं अस्य अस्ति इति) उपासनावाला बनता है। तू उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु का उपासक बनता है। २. **हव्यानि**=इन ग्रहण योग्य विज्ञानों को **सुरभीणि कृत्वी**=बड़ा सुगन्धित करके **अवाट्**=तू प्रजाओं में इनका प्राप्त करानेवाला बनता है। इन ज्ञानों का प्रचार तू इस मधुरता से करता है कि चारों ओर सुगन्ध-ही-सुगन्ध फैलती है। ३. तू **पितृभ्यः**=उन ज्ञानप्रद पितरों के लिए **हव्यानि**=उत्तम सेवनीय पदार्थों को **प्रादाः**=देता है, **ते**=वे इन पदार्थों को **स्वधया**=आत्मधारण के दृष्टिकोण से **अक्षन्**=खाते हैं। वे उतना ही भोजन करते हैं, जितना कि शरीरधारण के लिए पर्याप्त हो। ४. हे **देव**=ज्ञान की दीप्तवाले विद्वन्! **त्वम्**=तू भी **प्रयता**=शुद्ध **हवींषि**=हव्य पदार्थों का ही **अद्धि**=सेवन कर। तू भी सात्त्विक भोजनों को ही कर। 'प्रयता' का अर्थ आचार्य दयानन्द ने 'प्रयत्नेन साधिताभिः' प्रयत्न से प्राप्त पदार्थ किया है, श्रम से कमाये हुए भोजन को ग्रहण करने से ही सात्त्विकता बनी रहती है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करें। २. उसे बड़े मिठास के साथ लोगों तक पहुँचाएँ ३. आचार्यों को, पितरों को सात्त्विक अन्न देनेवाले हों। स्वयं भी पवित्र, प्रयत्नार्जित हव्य पदार्थों को ही खाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्वदेश व विदेश के विद्वान्

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२॥ऽउ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतं जुषस्व॥६७॥

१. **ये**=जो **च**=भी **इह**=यहाँ, इसी स्थान में **पितरः**=ज्ञानप्रद पितर हैं, **ये च इह न**=और जो यहाँ—इस स्थान में रहनेवाले नहीं हैं। उदाहरणार्थ—हम भारत के हैं, तो हमारे दृष्टिकोण से मन्त्रार्थ होगा, 'जो यहाँ भारत में रहनेवाले विद्वान् हैं, और जो यहाँ से बाहर के विद्वान् हैं, अर्थात् विदेश के विद्वान् हैं। २. **यान् च विद्म**=जिनको हम जानते हैं **यान् उ च न प्रविद्म**=और जिनको हम नहीं जानते हैं। ३. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले विद्वन्! **ते**=वे **यति**=(यतीन् शुचीन्) पवित्र जीवनवाले हैं ऐसा **त्वम्**=तू **वेत्थ**=जानता है, अर्थात् 'इस देश

के हैं या विदेश के हैं' इस बात का कोई महत्त्व नहीं। वे हमारे परिचित हैं या अपरिचित यह बात भी अविचारणीय है। आवश्यक बात तो इतनी ही है कि 'वे पवित्र जीवनवाले हैं या नहीं'। यदि वे पवित्र जीवनवाले हैं तो ज्ञानी विद्वन्! तू **स्वधाभिः**=आत्मधारण के लिए योग्य अन्नों से **सुकृतं यज्ञम्**=सुसम्पादित सत्कार व्यवहार को (देवपूजात्मक यज्ञ को) **जुषस्व**=सेवन कर, अर्थात् उत्तम अन्नादि से तू उनकी सेवा कर।

भावार्थ—हमें विद्वानों का आदर करना चाहिए चाहे वे स्वदेश के हों चाहे विदेश के। चाहे वे हमारे परिचित हों चाहे अपरिचित। इतना जानना पर्याप्त है कि उनका जीवन पवित्र है या नहीं। यदि वे 'यति'—संयत जीवनवाले हैं, तो वे हमारे लिए आदरणीय ही हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्कृष्ट पितर

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽउपरासऽईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳसुवृजनासु विक्षु॥६८॥

१. **अद्य**=आज **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के लिए **इदं नमः अस्तु**=यह सत्कार व अन्न हो। हम सत्कारपूर्वक उनके लिए सात्त्विक हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। २. **ये**=जो पितर **पूर्वासः**=हमसे विद्या व अवस्था में वृद्ध हैं, गुणों के दृष्टिकोण से पूर्वस्थान में स्थित हैं। **उ**=और **ये**=जो **उपरासः**=(उपरमन्ते इति, विषयेभ्य उपरताः) जो सांसारिक विषयों से उपरत हुए हैं। जो (कृतकृत्याः परं ब्रह्म ईयुः—उ०) गृहस्थ के सब कार्यभारों को पूर्ण करके अब ब्रह्मज्ञान में ही मुख्यरूप से **ईयुः**=गति कर रहे हैं। ३. **ये**=जो पितर **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में, पृथिवीलोक के मुख्य देवता अग्नि में **आनिषत्ताः**=समन्तात् निषण्ण हैं, सब प्रकार से यज्ञ-यागादि करने में प्रवृत्त हैं। **ये वा**=या जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=(शोभनं वृजनं बलं यासाम्) उत्तम धर्म-(पापवर्जन)-रूप बलवाली **विक्षु**=प्रजाओं में गिने जाते हैं, उन सब पितरों के लिए हम सत्कारपूर्वक अन्न प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम 'पूर्व' अर्थात् विद्यावयोवृद्ध 'उपर'=विषयों से उपरत 'पार्थिवे रजसि आनिषत्ता'=अग्नि में यज्ञ-यागादि करनेवाले तथा उत्तम धर्मरूप बलवाले पितरों का अन्नादि से सत्कार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पर प्राण पितर

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासोऽअग्नऽऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तोऽअरुणीरप व्रन्॥६९॥

१. **अध**=अब **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **पितरः**=पितर **परासः**=जो उत्कृष्ट हैं—विद्या आदि गुणों से उत्कर्ष को प्राप्त हैं, **प्रत्नासः**=आयुष्य में भी बड़े हैं, **ऋतम् आशुषाणाः**=(यज्ञं व्याप्नुवन्तः) यज्ञादि उत्तमकर्मों में व्याप्त हुए-हुए हैं। **शुचि दीधितिं इत् अयन्**=पवित्र ज्ञान की किरणों को जिन्होंने प्राप्त किया है और **उक्थशासः**=(उक्थानि शंसन्ति) कहने के योग्य ज्ञान-वचनों का शंसन करते हैं। २. **क्षामा भिन्दन्तः**=पार्थिव भोगों का विद्रावण करते हुए (क्षामा=पृथिवी, पार्थिव भोग) **अरुणीः**=अविद्या के अन्धकार की नाशक ज्ञानकिरणों को **अपव्रन्**=आच्छादन व आवरणरहित करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप ऐसा ही करें। आपकी कृपा से ऐसा ही हो।

भावार्थ—हम उन ज्ञानी पितरों का सम्पर्क प्राप्त करें जो गुणों से उत्कृष्ट हैं, वयोवृद्ध हैं, यज्ञादि कर्मों में व्याप्त जीवनवाले हैं, पवित्र ज्ञान-किरणों को प्राप्त हैं, उक्थों का शंसन करनेवाले, पार्थिव भोगों से ऊपर उठे हुए तथा ज्ञान की किरणों को अनावृत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हवि का अदन

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशतऽआ वह पितॄन्हविषेऽअत्तवे॥७०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अग्नि' से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **उशन्तः**=कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **निधीमहि**=अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करते हैं। जब हमें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना होती है, तभी हम अपने हृदयों में प्रभु का स्थापन कर पाते हैं। २. **उशन्तः**=आपकी प्राप्ति की प्रबल कामना करते हुए ही हम **समिधीमहि**=अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के लिए यज्ञ करते हैं। ज्ञानाग्नि के प्रकाश में ही तो आपका दर्शन हो पाएगा। ३. **उशतः**=आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए हमें **उशन्**=चाहते हुए आप हमें **पितॄन् आवह**=उन ज्ञानी पितरों को प्राप्त कराइए, जिनके सम्पर्क से हमारे जीवन में सदा **हविषे अत्तवे**=हवि खाने की भावना उत्पन्न हो। हम हवि का ही सेवन करें, सदा दानपूर्वक खानेवाले बनें। वस्तुतः इस हवि से ही प्रभु का भी पूजन होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। प्रभु को हृदयों में धारण करें, इसी उद्देश्य से ज्ञान को समिद्ध करें। ज्ञानप्रद पितरों के सम्पर्क को प्राप्त करके हवि के खाने का पाठ पढ़ें। यह हवि ही हमारा प्रभुपूजन बन जाएगी।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

नमुचि-शिरश्छेदन

अपां फेनेन नमुचेः शिरऽइन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥७१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितरों के सम्पर्क में रहकर पुरुष अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है। मन्त्र ६९ के अनुसार पितर 'ऋतमाशुषाणाः' सदा यज्ञों में व्याप्त रहनेवाले थे। उनके सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति भी सदा यज्ञात्मक कर्मों में लगता है। यह कर्मरत होने से ही विषयों में लिप्त नहीं होता। इन्द्रियों को जीतकर यह जितेन्द्रिय बनता है, अतः कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **अपाम**=कर्मों के **फेनेन**=(वर्धनेन—द०) वर्धन से, अपने जीवन को सदा कर्मों में लगाये रखने से **नमुचेः**=नमुचि के, अन्त तक पीछा न छोड़ने वाली (न+मुच) अभिमानवृत्ति के **शिरः उदवर्तयः**=सिर को तूने काट डाला है। कार्यरत पुरुष गर्व से ऊपर उठा रहता है। अभिमान वही करता है जो स्वयं काम न करके औरों को ही काम करने की आज्ञा देता रहता है। २. तू अभिमान को तो जीतता ही है **यत्**=यह वह क्षण होता है जब तू **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अजयः**=जीत लेता है। काम, क्रोध, लोभ आदि सब स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को तू पराजित करनेवाला होता है।

भावार्थ—कर्मों में लगे रहने से मनुष्य आसुरवृत्तियों का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सोम तथा अमरता

सोमो राजामृतꣳसुतऽऋजीषेणाजहान्मृत्युम्।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार क्रियाशीलता के द्वारा वासनाओं से ऊपर उठ जाने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह **सोमः**=सोम **राजा**=(राजृ दीप्तौ) उसके जीवन को दीप्त करनेवाला होता है। २. **अमृतम्**=यह सोम अमृत है। यह अपने रक्षा करनेवाले की अमरता का कारण बनता है, उसे रोगों का शिकार नहीं होने देता। ३. **सुतः**=निष्पादित हुआ-हुआ यह सोम **ऋजीषेण**=(सरलभावेन-द०) जीवन में सरलता के मार्ग से चलने के द्वारा-सरलभाव को अपनाने के द्वारा **मृत्युम्**=मृत्यु को **अजहात्**=छोड़ता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष सरलवृत्तिवाला होता है और जीवन में व्यर्थ की चिन्ताओं से रहित होने के कारण वह कभी अकालमृत्यु का ग्रास नहीं होता। सोमरक्षा से जीवन सौम्य व शान्त होता है। शान्त व सरल पुरुष अवश्य पूर्ण आयुष्य प्राप्त करता है। २. **शुक्रं ऋतेन**=यह सोम मानव-जीवन में व्यवस्था (राजा) व नियमितता के द्वारा (ऋत) सत्य का वर्धन करनेवाला होता है, **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति का वर्धक होता है, **विपानम्**=यह उसकी विशेषरूप से रक्षा करनेवाला होता है। सत्य के वर्धन के द्वारा यह सोम मन को दीप्त करता है, इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन से इन्द्रियों को उज्ज्वल बनाता है, और शरीर की रोगों से विशेषरूप से रक्षा करके शरीर को तेजस्वी बनाता है। एवं, शरीर इन्द्रियों व मन को दीप्त करने के कारण इसका 'शुक्रं' यह नाम सार्थक ही है, (शुच दीप्तौ)। ३. **अन्धसः**=अन्न से, अध्यायनीय-अत्यन्त ध्यान देने योग्य सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=प्रत्येक अङ्ग की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। **इदम्**=यह उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्** =यह उसे रोगों द्वारा मृत्यु का शिकार नहीं होने देता। **मधु**=यह उसके जीवन को अत्यन्त मधुर बना देता है।

भावार्थ-सोम की रक्षा करनेवाला व्यक्ति सरल वृत्ति व स्वभाव का बनता है। इसके जीवन में व्यर्थ की चिन्ताएँ उत्पन्न नहीं होतीं, इसीलिए यह दीर्घजीवी बनता है। इसके जीवन में सत्य तथा माधुर्य होता है।

सूचना-'ऋतेन' का अर्थ 'यज्ञ से' भी है। यह सोम हममें यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके हमें सत्यवृत्तिवाला बनाता है, हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाता है। यज्ञ के अभाव में ही विलासमय जीवन बनकर शक्ति का ह्रास होता है।

ऋषिः-**शङ्खः**। देवता-**अङ्गिरसः**। छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**॥

क्रुङ् (Swan) का क्षीरपान

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७३॥

१. **क्रुङ्**=क्रौञ्चपक्षी (Swan)-जैसे हंसजाति का यह क्रौञ्चपक्षी **अद्भ्यः**=जलों से **क्षीरम्**=दूध को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पी लेता है, उसी प्रकार **अंगिरसः**=अपने एक-एक अङ्ग को रसमय बनानेवाला विद्वान् **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों के द्वारा (धी=कर्म तथा प्रज्ञा) **अद्भ्यः क्षीरम्**=(आपो रेतो भूत्वा) जलों से उत्पन्न सारभूत सोम को (क्षि निवासगत्योः), शरीर में उत्तम निवास व गति, अर्थात् क्रियाशीलता के कारणभूत सोम को **व्यपिबत्**=अपने अन्दर ही पीने का प्रयत्न करता है। सोमरक्षा का सरलतम साधन प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहना ही है। अकर्मण्यता हमें ग़लत मार्ग की ओर ले-जाती है। इस अकर्मण्यता से हममें वासनाएँ जागती हैं और सोमपान सम्भव नहीं रहता। २. **ऋतेन**=यह सोम यज्ञ व नियमितता के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=हमारे सत्य को विकसित करता

है, इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ाता है और रोगों से रक्षा करता है। ३. यह **शुक्रम्**=हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=सब अङ्गों की शक्ति का वर्धक होता है। ५. **इदम्**=यह शुक्र (सोम) उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला **अमृतम्**=उसे अकाल में न मरने देनेवाला तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनानेवाला है।

भावार्थ—हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहने के द्वारा सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शुचिषत् हंस

सोमꣳम॒द्भ्यो व्यपिब॒च्छन्द॑सा हꣳसः शु॑चि॒षत्।

ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳशु॒क्रमन्ध॑स॒ऽ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृत॑ं मधु॑॥७४॥

१. **शुचिषत्**=(पवित्रेषु विद्वत्सु सीदति— द०) पवित्र जीवनवाले विद्वानों के सम्पर्क में रहनेवाला, उन्हीं के सङ्ग में बैठने-उठनेवाला **हंसः**=(हन्ति पाप्मानम्) सत्सङ्ग द्वारा पापों को नष्ट करनेवाला यह 'शंख' (ऋषि) **अद्भ्यः**=(आपः प्राणाः) प्राणसाधना के द्वारा तथा **छन्दसा**=वेदज्ञान द्वारा, सतत अध्ययन की वृत्ति के द्वारा, जो वृत्ति उसे पापों से बचाती है (छादयति) उस स्वाध्याय की वृत्ति के द्वारा **सोमम्**=सोम को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता है। २. यह सोम **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता से **सत्यं इन्द्रियं विपानम्** =सत्य का वर्धन करता है, अङ्गों की शक्ति को बढ़ाता है, शरीर को विशेषरूप से रोगों से बचाता है। ३. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल व क्रियाशील (शुच् दीप्तौ, या शुक् गतौ) बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=सब अङ्गों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदं पयः**=यह आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्**=असमय में न मरने देनेवाला होता है तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सोम की रक्षा के लिए हम सत्सङ्ग के द्वारा आसुरवृत्ति को नष्ट करें। प्राणसाधना करें तथा ज्ञान की रुचिवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजापति का सोमपान

अन्नात्प॑रि॒स्रुतो॒ रस॒ं ब्रह्म॑णा॒ व्यपिबत् क्ष॒त्रं पय॒ः सोम॑ं प्र॒जाप॑तिः।

ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳशु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृत॑ं मधु॑॥७५॥

१. परिस्रुतः=(सर्वतः स्रुतः पक्वात्—द०) सब प्रकार से परिपक्व **अन्नात्**=(यवादेः—द०) जौ आदि अन्नों से **सोमं रसम्**=उत्पन्न सारभूत इस सोमरस को—वीर्यशक्ति को **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा अथवा ब्रह्म के ध्यान के द्वारा **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पान करता है। स्वाध्याय व ब्रह्मध्यान सोमरक्षण में सहायक होते हैं। २. यह शरीर में ही पिया हुआ—व्याप्त किया हुआ सोम **क्षत्रम्**=सब क्षतों व घावों से बचानेवाला होता है, अथवा यह (क्षत्रं=बल) बल का देनेवाला होता है और **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=सत्य का वर्धन करता हैं, इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है और विशेषरूप से रोगों से रक्षा करता है।

४. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल (शुच् दीप्तौ) व क्रियाशील (शुक् गतौ) बनाता है। ५. **अन्धसः**=सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा की **इन्द्रियम्**=इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ानेवाला होता है **इदं पयः**=यह आप्यायन करता है, **अमृतम्**=यह असमय के रोगों से मरने नहीं देता और **मधु**=जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों का सेवन करता हुआ उत्पन्न सारभूत सोम का शरीर में पान करता है, तभी यह प्रजाओं को क्षतों से बचानेवाला व प्रजाओं का वर्धन करनेवाला होता है। **ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति**=ब्रह्मचर्य से ही राजा राष्ट्र की उत्तम रक्षा करता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रेतः मूत्रं (प्रजापति की राष्ट्र को दो भेंटें)

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृतऽउल्बं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७६॥

१. गतमन्त्र में प्रजापति के सोमपान का उल्लेख है। यह प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह राजा इस सोमपान से शक्ति का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। यह **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति से युक्त राजा (इन्द्रियं=राजा—'जयदेव') **योनिं प्रविशत्**=अपने आश्रयभूत राष्ट्र में प्रवेश करता हुआ अथवा चुनाव द्वारा राजा को जन्म देनेवाली अतएव राजा की योनिभूत प्रजा में प्रवेश करता हुआ, उस प्रजा में **रेतः**=शक्ति को **विजहाति**=(विहायितम्=दान) भेंट के रूप में देता है—प्रजा में शक्ति का स्थापन करता है। इस शक्तिस्थापन के साथ **मूत्रम्**=(मूत्र-स्राव to go, to move) एक विशिष्ट गति को, क्रियाशीलता को प्रजा में स्थापित करता है। प्रजा राजाओं को चुनाव द्वारा जन्म देती है। एवं, प्रजा राजा की योनि हैं। चुना जाकर राजा प्रजा में प्रवेश करता है (योनि-प्रवेश) तो प्रजा को शक्ति व गति की भेंट देता है, अर्थात् राष्ट्र की व्यवस्था इस प्रकार करता है कि प्रजा की शक्ति बढ़े और प्रजा में क्रियाशीलता की भावना उत्पन्न हो। इस शक्ति व क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला राजा स्वयं शक्ति का पुञ्ज (इन्द्रिय) बनता है। २. यह राजा **गर्भः**=(गृह्णाति) प्रजा को वश करने में (ग्रहण करने में—उसपर अनुग्रह व निग्रह में) समर्थ होता है तथा प्रजा को अपने में धारण करनेवाला होता है। ३. यह राजा **जरायुणा**=(जारयति) शत्रु को क्षीण करनेवाले तथा राष्ट्र में पापों को जीर्ण करनेवाले बल से **आवृतः**=आच्छादित होता है, अर्थात् यह उस शक्ति को धारण करता है, जिसके द्वारा यह राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को समाप्त कर पाता है। ४. **जन्मना**=(जनी प्रादुर्भवे) राष्ट्र की शक्तियों के विकास के द्वारा यह **उल्वं**=(ऊर्णोतेः—नि० ६।३५) आवरणों को—प्रगति में आनेवाले बाधक विघ्नों को **जहाति**=दूर करता है (हा, Remove) अथवा **उल्बम्**=राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों (calamity) का निवारण करता है। ५. यह राजा सोम का पान करता है वह पीत सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यम् इन्द्रियम् विपानम्**=इसके अन्दर सत्य को बढ़ाता है, शक्तिवर्धक होता है और इसकी विशेषरूप से रक्षा करता है। ६. **शुक्रम्**=इसके जीवन को यह उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ७. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा का, इस राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला, **अमृतम्**=इसे रोगों से न मरने देनेवाला तथा **मधु**=इसके जीवन को मधुर बनानेवाला होता है।

भावार्थ—चुना जाने पर राष्ट्र के सिंहासन पर बैठता हुआ राजा प्रजा में शक्ति व गति का आधान करता है। प्रजा को वश में रखता हुआ यह शत्रुशोषक शक्ति से युक्त होता है। विकास के द्वारा राष्ट्र की उन्नति के आवरणों को दूर करता है। राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों से राष्ट्र को बचाता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

न्याय

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धꣳसत्ये प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥७७॥

१. **प्रजापतिः**=गतमन्त्र के अनुसार राजा पहला कार्य यह करता है कि राष्ट्र को सबल व क्रियाशील बनाकर सुरक्षित करता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि राष्ट्र में विवाद करते हुए पुरुषों का वह उचित न्याय करता है। यह राजा **रूपे दृष्ट्वा**=दोनों पक्षों से निरूपण की गई बातों को सम्यक् देखकर उन बातों की प्रबलता व निर्बलता को तोलकर **सत्यानृते**=सत्य और अनृत को **व्याकरोत्**=पृथक्-पृथक् स्थापित करता है। 'यह पक्ष सत्य है' और 'यह पक्ष असत्य है' इस प्रकार दोनों का स्पष्ट विवेचन कर देता है। २. **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा प्रयत्न करता है कि वह प्रजा के अन्दर **अनृते अश्रद्धाम्**=अनृत में, झूठ में अश्रद्धा को, अनास्था व अरुचि को तथा **सत्ये श्रद्धाम्**=सत्य में श्रद्धा को **अदधात्**=स्थापित कर सके। चूँकि यह सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के विषय में अश्रद्धा ही प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा करनेवाली होती है। ३. यह राजा अपने इस सत्कार्य को इसीलिए कर पाता है कि सुरक्षित सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=इसे सत्यनिष्ठ, शक्तिशाली व रोगों से अनाक्रान्त बनाता है। **शुक्रम्**=यह सोम इसके जीवन को शुचि व (शुक् गतौ) क्रियाशील बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=राष्ट्र के शत्रुओं के विदारक राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः अमृतं मधु**=इसका आप्यायन करता है, इसे रोगों से मरने नहीं देता और इसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में सत्यासत्य का ठीक विवेचन करनेवाला होता है तथा प्रजा में सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के प्रति अश्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विधि-निषेध

वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥७८॥

१. **प्रजापतिः**=यह राजा **वेदेन**=(ईश्वरप्रकाशितेन वेदचतुष्टयेन—द०) वेद से, ईश्वर से दिये गये ज्ञान से **रूपे**=सत्य व अनृत के रूप को **व्यपिबत्**=विशेष रूप से ग्रहण करे। २. इस बात को सम्यक् समझे कि **सुतासुतौ**=(प्रेरिताप्रेरितौ—द०) किस बात की वेद में विधि व प्रेरणा है तथा किस बात का निषेध है, विधि-निषेधात्मक वेदवाक्यों से वह धर्माधर्म को सम्यक् जाने। स्वयं धर्माधर्म को जानता हुआ ही वह प्रजा में धर्म की स्थापना तथा अधर्म का नाश कर सकता है। ३. यह ज्ञान उसे तभी होता है जब शरीर में व्याप्त

किया हुआ सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति से **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=उसे सत्ययुक्त करता है, शक्तिशाली बनाता है और उसकी रोगों से रक्षा करता है। ४. **शुक्रम्**=यह सोम उसे उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः** =अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=इस ज्ञान व ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा का **इन्द्रियम्**=बल बनता है। **इदम्** =यह उसे **पयः अमृतं मधु**=आप्यायित करता है, नीरोग करता है तथा मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा सत्यासत्य के स्वरूप को ठीक समझनेवाला हो। वह वेद के विधि-निषेधात्मक वाक्यों से धर्माधर्म का ज्ञान प्राप्त करे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

परिपक्व अन्न का रस

दृष्ट्वा परिस्रुतो रसꣳशुक्रेण शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७९॥

१. गतमन्त्र में वेद से सत्यानृत के रूप को व विधि-निषेध को देखने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **प्रजापतिः**=राजा **दृष्ट्वा**=वेद के विधि-निषेध को देखकर, उसके अनुसार **परिस्रुतः**=परिपक्व अन्न से **रसम्**=रस को **व्यपिबत्**=पीता है, इसी परिपक्व अन्न के रस से उत्पन्न **शुक्रम्**=वीर्य को **शुक्रेण**=(शुच् दीप्तौ) उज्ज्वलता के हेतु से अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशीलता के उद्देश्य से **व्यपिबत्**=अपने शरीर में पीता है, अर्थात् उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। २. यह शरीर में सुरक्षित सोम **पयः**=उसका आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है तथा **सोमम्**=उसे सौम्य व शान्त बनानेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम्**=उसे सत्यवृत्तिवाला बनाता है **इन्द्रियम्**=उसकी एक-एक इन्द्रिय को शक्तिसम्पन्न करता है, **विपानम्**=उसका विशेषरूप से रक्षण करता है, उसे रोगों से बचाता है। ४. **शुक्रम्**=यह उसे दीप्त करता है, उसे क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। **इदम्**=यह **पयः**=उसका वर्धन करता है। **अमृतम्**=उसे रोगों से मरने नहीं देता, **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—परिपक्व अन्न के रसों से उत्पन्न वीर्य मनुष्य-शरीर में सुरक्षित होकर उसका आप्यायन करनेवाला होता है और उसे शान्त बनाता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कुटीर उद्योग (Cottage Industry)

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
अश्विना यज्ञꣳसविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्॥८०॥

१. गतमन्त्रों में राजा के राष्ट्र को सुरक्षित करने, उसमें न्याय-व्यवस्था को ठीक रखने का उल्लेख हो चुका है। प्रस्तुत मन्त्र में आर्थिक स्थिति का विचार करते हुए कहते हैं कि राष्ट्र में राजा 'कुटीर उद्योग' को प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। 'तन्त्रं' के यहाँ दो अर्थ अपेक्षित हैं—(क) परिवार का पालन (Supporting of a family) तथा (ख) Loom खड्डी (वस्त्र-निर्माणयन्त्र)। यहाँ खड्डी अन्य छोटे-छोटे यन्त्रों का भी प्रतीक है। २. राजा ऐसी व्यवस्था करता है कि **मनीषिणः**=विद्वान् पुरुष **मनसा**=विचारपूर्वक **सीसेन**=सीसे

आदि धातुओं से **तन्त्रम्**=छोटे-छोटे यन्त्रों को बनाते हैं, जिन यन्त्रों के द्वारा कार्य करते हुए वे मनीषी लोग इतना धन अवश्य कमा लेते हैं कि वे अपने परिवार का पालन कर सकें। ३. ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी लोग **ऊर्णासूत्रेण** =ऊन के सूत्रों से **वयन्ति**=आवश्यक वस्त्रादि बुनते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये विद्वान् स्वयं बुनते हैं, औरों से बुनवाते नहीं। इससे श्रम का महत्त्व बढ़ता है—दासप्रथा की हीनभावना उत्पन्न नहीं होती, धन की अत्यधिक विषमता भी नहीं होती। ४. इस प्रकार स्वयं अपने हाथ से कार्य करते हुए इन **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय, ज्ञानी पुरुषों के **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **अश्विना**=प्राणापान **सविता**=निर्माण की देवता तथा **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता **वयन्ति**=संहत करते है, बनाते हैं। प्राणापान इन्हें आलसी नहीं होने देते, सविता व निर्माण इन्हें आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी—अभाव का अनुभव नहीं कराता तथा सरस्वती इनके जीवन में उलझनों को नहीं आने देती। ५. **भिषज्यन्**=चिकित्सा करता हुआ **वरुणः**=वरुणदेव—द्वेषनिवारण **रूपम्**=इस इन्द्र के रूप को सुन्दर बनाता है। इसे रोगी नहीं होने देता और स्वास्थ्य व सौन्दर्य को प्राप्त कराता है। वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष की वृत्तियाँ ही रोगों को पैदा करके मनुष्य को अस्वस्थ करती हैं और उसके रूप को हर लेती हैं।

भावार्थ—१. राजा राष्ट्र में कुटीर उद्योग की इस प्रकार व्यवस्था करे कि लोगों के जीवन में आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न न हों। २. जीवनयज्ञ के उत्तम सञ्चालन के लिए प्राणापान की शक्ति का वर्धन हो, निर्माण की वृत्ति हो तथा विज्ञान की वृद्धि हो। ३. ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि के अभाव से सभी नीरोग व सुरूप हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यव, चावल, लाजा

तदस्य रूपममृतꣳशचीभिस्तिस्रो दधुर्देवताः सꣳरराणाः।
लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोक्मभिस्त्वगस्य माꣳसमभवन्न लाजाः॥८१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वरुण देवता, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष आदि का नितान्त अभाव मनुष्य को स्वास्थ्य का सौन्दर्य—उत्तम रूप प्राप्त कराता है। **अस्य**=इसका **तत् रूपम्**=वह स्वास्थ्यजनित सौन्दर्य **शचीभिः**=कर्मजनित शक्तियों व प्रज्ञानों से **अमृतम्**=न नष्ट होनेवाला होता है। ईर्ष्या से ऊपर उठकर यह प्रज्ञापूर्वक कार्यों में लगा रहता है। यह कर्मों में लगे रहना उसमें किसी प्रकार के हीनभाव उत्पन्न नहीं होने देता। २. **तिस्रः देवताः**=इसके जीवन में द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्ष का चन्द्र तथा पृथिवी की अग्नि, अध्यात्म दृष्टिकोण से मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयान्तरिक्ष का प्रसाद (प्रसन्नता) तथा शरीर की उष्णता शक्ति की गर्मी—ये तीनों देव **संरराणा**=सम्यक् रमण करते हुए **संदधुः**=उत्तम रूप की स्थापना करते हैं। ३. इसके जीवन में **शष्पैः**=घास भोजन से **लोमानि अभवन्**=शरीर में लोम उत्पन्न होते हैं। 'ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा—ऐतरेय'। ४. **न** और (अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं सर्वे नकाराश्चकारार्थाः) **बहुधा**=बहुत करके **तोक्मभिः**=(विशिष्टयवैः—म०) विशिष्ट रूप से उत्पन्न किये गये जौ से **अस्य त्वक्**=इसकी त्वचा का निर्माण होता है। जौ को उत्तम खाद्य व जल से उत्पन्न किया जाए और हमारे भोजनों में इन्हीं जौ का प्राचुर्य हो तो हमारी त्वचा ठीक रहेगी। ५. **न**=और **लाजाः**=भुने हुए चावल **अस्य मांसम् अभवन्**=इसके मांस हो गये। इसकी मांस-रचना चावलों का परिणाम है। संक्षेप में इनका भोजन शष्प, तोक्म व लाजा हैं। इनसे इसके लोम, त्वचा व मांस ठीक होते हैं, और वह स्वस्थ बना रहता है।

भावार्थ—प्रज्ञापूर्वक कर्मों से हमारे शरीर की कान्ति बनी रहती है। २. हमारे जीवन में सूर्य के समान ज्ञानज्योति हो, चन्द्र के समान मानस आह्लाद हो तथा अग्नि के समान शरीर में शक्ति की उष्णता हो। ३. शष्प, तोक्म व लाजा प्रयोग से हमारे लोम, त्वचा व मांस ठीक बने रहें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रुद्रवर्तनी अश्विनौ

तद॒श्विना॒ भि॒षजा॑ रु॒द्रव॑र्तनी॒ सर॑स्वती वयति॒ पेश॒ोऽअन्त॑रम्।
अस्थि॑ म॒ज्जान॒ं मास॑रैः कारोत॒रेण॒ दध॑तो॒ गवा॑ त्व॒चि॥८२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'शष्प, तोक्म व लाजा' इसके भोजन होते हैं, **तत्**=तब **रुद्रवर्तनी**=(रुद्रस्य वर्तनिरिव वर्तनिर्ययोः) रुद्र के समान मार्गवाले, (रोरुमयाणो द्रवति इति रुद्रः) रुद्र गर्जना करता हुआ शत्रुओं पर आक्रमण करता है, इसी प्रकार **अश्विना**=प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। ये गर्जते हुए प्रबलता से रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से इसके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **अन्तरम् पेशः**=अन्दर के सौन्दर्य (रूप) को **वयति**=सन्तत करती है। प्राणापान इसे स्वस्थ बनाकर बाह्य रूप को सुन्दर बनाते है, तो ज्ञान इसके मस्तिष्क को दीप्त करके इसके अन्तः सौन्दर्य को बढ़ाता है। ३. **मासरैः**=(मासेषु रमणैः) सब मासों में अर्थात् सदा रमण से, आनन्दमय मनोवृत्ति के धारण से **अस्थि मज्जानम्**=यह अस्थियों व मज्जा को **वयति**=सन्तत करता है, बढ़ाता है। वस्तुतः सदा ऋतु को अभिशाप देते रहने से और खिझते रहने से अस्थि व मज्जा शिथिल हो जाते हैं, और स्वास्थ्य एकदम गिर जाता है। २. **अश्विना**=प्राणापान ही **कारोतरेण**=(कारुः शिल्पिनि कारके, तरप्रत्यय) अत्यधिक कलापूर्ण ढंग से कार्यों के करने, **गवां त्वचि**=वेदवाणियों—ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में **दधतः**=इसे धारण करते हैं, अर्थात् यह प्राणापान की शक्ति के वर्धन से सूक्ष्म बुद्धि होकर सदा ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में रहना चाहता है।

भावार्थ—प्राणापान वैद्य हैं, ज्ञान से अन्तःसौन्दर्य प्राप्त होता है। सदा प्रसन्न रहने से अस्थि, मज्जा आदि ठीक रहते हैं। उत्तमता से कर्मों में लगे रहने से मनुष्य ज्ञान की रुचिवाला बनता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रसं ओषधीनाम्

सर॑स्वती॒ मन॑सा पेश॒लं वसु॒ नास॑त्याभ्यां वयति॒ दर्श॒तं वपु॑ः।
रस॑ं॒ परि॒स्रुता॒ न रोहि॑तं॒ न॒ग्नहु॒र्धीर॒स्तस॑रं॒ न वेम॑॥८३॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **मनसा**=मनन-संकल्प से तथा **नासत्याभ्याम्**=प्राणापानों के द्वारा **पेशलम्**=लचकीले, कोमल (Soft), सूखे काठ की भाँति न अकड़े हुए, **वसु**=निवास के योग्य, **दर्शनम्**=दर्शनीय, सुन्दर **वपुः**=शरीर को **वयति**=सन्तत करती है, बनाती है, अर्थात् 'ज्ञान, संकल्प तथा प्राणापान' शरीर को लचकीला, उत्तम व सुन्दर बनाते हैं। ज्ञान से ही हमारा आहार-विहार हितकर होगा और शरीर नीरोग रहेगा। विचारशीलता व संकल्प उत्साह को स्थिर रखते हैं और शरीर निवास के योग्य बना रहता है। प्राणापान शरीर को तेजस्वी व दर्शनीय बनाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न

से **रसम्**=रस को **वयति**=सन्तत करती है, अर्थात् ज्ञान से हम स्वास्थ्य के लिए हितकर अन्न-रसों का सेवन करनेवाले बनते हैं। यह रस **रोहितम्**=हमारी वृद्धि का कारण बनता है। ३. **न**=और **नग्नहुः**=(नग्नः अपि जुहोति) स्वयं नग्न रहता हुआ भी जो आहुति देता है, अर्थात् लोकहित के लिए यज्ञियवृत्तिवाला होता है—खूब दान देता है और **धीरः**=धैर्यशाली होता है **तसरम्**=(तस्यति उपक्षयति दुःखानि येन—द०) सब दुःखों व रोगों का क्षय करनेवाले **वेम**=(वी=प्रजनन) विकासवाले शरीर को **वयति**=सन्तत करता है, अर्थात् जो व्यक्ति यज्ञियवृत्ति के कारण भोगवाद में नहीं फँस जाता (नग्नहुः) और जीवन में शान्ति से चलता है (धीरः) वह शरीर को नीरोग (तसरं) तथा विकसित शक्तियोंवाला (वेम) बना पाता है।

भावार्थ—(क) हमें ज्ञानपूर्वक आहार-विहार करना चाहिए, (ख) विचारशील—उत्तम संकल्पवाला होना चाहिए, (ग) प्राणापान की शक्ति का वर्धन करना चाहिए, (घ) शरीर की उन्नति के लिए पक्वान्नों के रस का ग्रहण करना चाहिए तथा (ङ) त्यागवृत्तिवाला व धैर्यशील बनकर नीरोग व विकसित शरीरवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दुग्ध सेवन

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳसुरया मूत्रान्ज्जनयन्त रेतः।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमानाऽऊवध्यं वातꣳसब्वं तदारात्॥८४॥

१. गतमन्त्र के ज्ञानी, मननशील, प्राणापान-शक्तिसम्पन्न लोग (सरस्वती, मनसा, नासात्याभ्यां) **पयसा**=दूध के द्वारा **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति को **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, जो शक्ति **अमृतम्**=उन्हें रोगों से मरने नहीं देती और **जनित्रम्**=उनके विकास का कारण बनती है। गतमन्त्र में अन्न के रस का उल्लेख था। वह 'अन्न-रस' उनकी शरीर की उन्नति का कारण (रोहित) होता है। प्रस्तुत मन्त्र में दूध का उल्लेख करते हैं। यह वीर्य को उत्पन्न करके उन्हें नीरोग व विकसित शक्तिवाला बनाता है। २. **सुरया**=(सुर to govern) आत्मनियन्त्रण के द्वारा तथा **मूत्रात्**=(मूत्र प्रस्रवणे, स्तु गतौ) गतिशीलता के द्वारा ज्ञानी लोग **रेतः**=शक्ति को **जनयन्त**=विकसित करते हैं। ३. इस प्रकार उत्तम खान-पान, आत्मनियन्त्रण व क्रियाशीलता से वे **अमतिम्**=बुद्धि के अभाव, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=औरों का घात-पात सोचनेवाली दुष्ट बुद्धि को, अर्थात् रजोगुण को अथवा तामसी व राजसी बुद्धि को **अपबाधमानाः**=अपने से दूर रखते हैं। ४. इसी उद्देश्य से जो **ऊवध्यम्**=आमाशयगत अन्न है, **वातम्**=नाड़ीगत अन्न है तथा **सब्वम्**=पक्वाशयगत अन्न है **तत्**=उसे **आरात्**=दूर और समीप करते हैं, अर्थात् उसके उपादेय अंश को शरीर में धारण करते हैं और हेयांश को शरीर से दूर करते हैं। प्राण के ठीक कार्य करने पर उपादेयांश शरीर का अङ्ग बन जाता है, और अपान के ठीक कार्य करने पर हेयांश शरीर से दूर होता रहता है।

भावार्थ—(क) दूध के प्रयोग से वीर्यशक्ति को उत्पन्न करें, (ख) आत्म-नियन्त्रण व गतिशीलता से उस शक्ति की रक्षा करें (ग) अमति व दुर्मित को अपने से दूर करें, (घ) आमाशय-नाड़ी (आन्त्र) व पक्वाशय में प्रविष्ट अन्न के उपादेयांश को अपने समीप रक्खें तथा मलरूप हेयांश को अपने से दूर करें, जिससे पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पूर्ण स्वास्थ्य (सुत्रामा इन्द्र)

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्॥८५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अन्न व दूध आदि भोज्य द्रव्यों के उपादेयांश को समीप तथा हेयांश को अपने से दूर रखनेवाला **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विदारण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **सुत्रामा**=उत्तमत्ता से अपना त्राण करता है, अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देता। २. शरीर को ही नीरोग बनाये, इतना ही नहीं, वह **हृदयेन सत्यम्**=हृदय से भी सत्य को ग्रहण करता है, अर्थात् मन में ईर्ष्यादि की अपवित्र भावनाओं को उत्पन्न नहीं होने देता। ३. हृदय को सत्य से शुद्ध व पवित्र बनाकर **पुरोडाशेन**=मस्तिष्क से (मस्तिष्को वै पुरुडाशः—तै०२।८।६) **सविता**=सदा निर्माण के कार्यों को करनेवाला **जजान**=बनता है, अर्थात् इसका मस्तिष्क कभी तोड़-फोड़ के कार्यों का विचार नहीं करता। गतमन्त्र के अनुसार अमति व दुर्मति का बाधन होने पर और सुमति का विकास होने पर मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है। ४. **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता **यकृत्**=इसके जिगर को **क्लोमानम्**=(The lungs, the bladder) फेफड़ों व मूत्राशय को तथा मसाने=गुर्दों को **भिषज्यन्**=नीरोग करता है, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष व मात्सर्य से ऊपर उठकर मनुष्य अपने जिगर आदि को ठीक रखता है। दूसरे शब्दों में, ईर्ष्या-द्वेषादि से ऐसे विष उत्पन्न होते हैं जिनसे जिगर आदि में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ४. **न**=और यह इन्द्र **वायव्यैः**=वायव्य पदार्थों से, वाततत्त्व-प्रधान पदार्थों के प्रयोग से **पित्तम्**=पित्त को **मिनाति**=कुछ न्यून (Diminish) करता है। पित्त के बढ़ जाने पर ही जिगर आदि के कष्टसाध्य विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं।

भावार्थ—(क) जितेन्द्रिय पुरुष शरीर को स्वस्थ्य, हृदय को सत्यमय तथा मस्तिष्क को निर्माणात्मक विचारोंवाला बनाता है, (ख) ईर्ष्यादि से ऊपर उठकर यह अपने यकृत्, क्लोम व मसानों को विकृत नहीं होने देता (ग) वायव्य पदार्थों के प्रयोग से पित्त को संयत रखता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता॥८६॥

१. गतमन्त्र के 'सुत्रामा इन्द्र' की **मधु**=मधुरगुणान्वित अन्न को **पिन्वमानाः**=सेवन करती हुई **अन्त्राणि**=(अन्नपाकाधारा नाड़ीः—द०) अन्न का परिपाक करनेवाली नाड़ियाँ **स्थालीः**=(यासु पच्यन्ते अन्नानि) उखा (पतीली) होती हैं। जैसे पतीली में अन्न का परिपाक करते हैं, इसी प्रकार इन नाड़ियों में अन्नपाचन क्रिया चलती है। २. **गुदाः**=मल को दूर करनेवाली इन्द्रियाँ ही **पात्राणि**=(पा रक्षणे) रक्षिका होती हैं। इन इन्द्रियों के ठीक कार्य करने पर ही शरीर का रक्षण निर्भर है। ३. **न**=और **धेनुः**=(गौर्नाडी धमनिः धेनुरित्यर्थान्तरम्) नाड़ियाँ व धमनियाँ **सुदुघा**=(दुह प्रपूरणे) उत्तमत्ता से प्रपूरण करनेवाली हैं। शरीर में उस-उस स्थान पर आवश्यक रुधिर को पहुँचानेवाली होती हैं। ४. **न**=और

प्लीहा=तिल्ली **श्येनस्य पत्रम्**=बाज़ के पंख के समान है। प्लीहा का आकार श्येन पंख-सा है। जैसे पंख श्येन की उड़ान का कारण होता है, उसी प्रकार प्लीहा अविकृत होने पर मनुष्य के उत्साह का कारण बनती है, विकृत होकर मनुष्य को उदासीन कर देती है। ५. **शचीभिः**=सब प्रज्ञाओं व कर्मों का अधिष्ठान होने से **नाभिः**=नाभि **आसन्दी**=राजपीठ के समान है, इसी नाभि में सब प्रज्ञान व कर्म सम्बद्ध हैं। ६. **न**=और **उदरम्**=उदर तो **माता**=सम्पूर्ण रुधिर आदि का निर्माण करनेवाला है ही।

भावार्थ—(क) जिस समय हमारी आँतें अन्न का ठीक परिपाक करेंगी, (ख) गुदा आदि इन्द्रियाँ मल के दूरीकरण से रक्षिका होंगी, (ग) धमनियाँ रुधिरादि का ठीक पूरण करेंगी (घ) प्लीहा अविकृत होकर हमारे उत्थान का कारण बनेगा, (ङ) नाभि सब शक्तियों व प्रज्ञानों का आधार बनेगी और (च) उदर रुधिरादि का निर्माण करेगा, तभी हम पूर्ण स्वस्थ बनेंगे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

कुम्भ-कुम्भी

कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भोऽअन्तः।
प्लाशिर्व्यक्तः शतधारऽउत्सो दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः ॥८७॥

१. पति को कैसा बनना इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **कुम्भः**=(कं उभ्यते अस्मिन्) जल के परिणामभूत वीर्यकण (आपो रेतो भूत्वा) जिसके अन्दर पूरित होते हैं, वह 'कुम्भ' है । पति ने अपने इस शरीररूपी कलश को वीर्यादि धातुओं से परिपूर्ण बनाना है। (कलश इव वीर्यादिधातुभिः पूर्णः—द०) वीर्यादि से परिपूर्ण होने के कारण ही जो आनन्द से परिपूर्ण है, (क=आनन्द)। संक्षेप में, पति शक्तिशाली है और इसीलिए प्रसन्न मनोवृत्तिवाला है। २. **वनिष्ठुः**=(सम्भाजी—द०) यह सम विभागपूर्वक वस्तुओं का प्रयोग करता है, सारा स्वयं नहीं खा जाता। केवलादी नहीं बनता। ३. **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करने से **जनिता**=यह अपनी शक्ति का सदा प्रादुर्भाव करता है। ४. **अग्रेः**=सृष्टि बनने से पूर्व यह संसार **यस्मिन्**=जिस प्रभु में था, **योन्यां गर्भः अन्तः**=उस कारणभूत ब्रह्म में यह गर्भरूप से निवास करता है। जैसे गर्भ माता में सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह सदा उस 'जगद्योनि' ब्रह्म में गर्भरूप से सुरक्षित रहता है। वहाँ रहता हुआ यह रोगों व पापों से आक्रान्त नहीं होता। ५. **प्लाशिः**=(प्रकृष्टम् अश्नाति) यह सदा उत्तम सात्त्विक भोजनों का करनेवाला होता है। **व्यक्तः**=इस सात्त्विक भोजन से ही इसका अन्तःकरण सात्त्विक बनकर इसके जीवन को उच्च बनाता है। ६. **शतधारः**=(शतशः धारा वाचो यस्य) यह अनन्त ज्ञान की वाणियोंवाला होता है। ७. **उत्सः**=(उन्दी क्लेदने) यह दया के जल से सदा क्लन्न व करुणार्द्र हृदयवाला होता है, अथवा यह ज्ञान का स्रोत बनता है जहाँ से सब लोग अपनी ज्ञान की प्यास बुझा पाते हैं। ८. अब पत्नी का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि **कुम्भी**=पत्नी भी शक्ति से परिपूर्ण शरीररूपी कलशवाली होती है और इसीलिए आनन्दमय हृदयवाली होती है। यहाँ प्रथम 'कुम्भ' शब्द के स्त्रीलिंग 'कुम्भी' शब्द के प्रयोग से अन्य गुणों का भी पत्नी में उसी प्रकार आवश्यक रूप से होने का संकेत हो गया है। ९. **न**=और इन गुणों के साथ यह 'पत्नी' **स्वधाम्**=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **पितृभ्यः**=अपने-अपने कर्त्तव्य भाग के पालन के द्वारा घर का रक्षण करनेवाले पितरों के लिए **दुहे**=पूरित करती है। घर में सभी को शरीरपोषक भोजन प्राप्त कराना, यह पत्नी का

विशिष्ट कर्त्तव्य है। इसके ठीक होने पर ही शरीर, मन व बुद्धि सबकी उन्नत्तियाँ निर्भर हैं।

भावार्थ—पति व पत्नी शक्तिशाली व प्रसन्न मनवाले हों। शरीरपोषक अन्न के सेवन से सब उन्नत्तियों को सिद्ध करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप

मुखꣳसदस्य शिरऽइत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्पं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी॥८८॥

१. **अस्य**=इस—गतमन्त्र के 'कुम्भ' का **मुखम्**=मुख **सत्**=उत्कृष्ट होता है। (सत् इति उत्तरनाम—नि० ३।२९)। २. **सतेन**=इस उत्कृष्ट मुख के साथ **इत्**=निश्चय से **शिरः**=मस्तिष्क होता है। जहाँ इसका मुख उत्कृष्ट होता है, वहाँ इसका मस्तिष्क भी ठीक होता है। ३. **जिह्वा पवित्रम्**=इसकी जिह्वा पवित्र होती है। **अश्विना पवित्रम्**=इसके प्राणापान इसे पवित्र बनानेवाले होते हैं। ४. 'मुख व मस्तिष्क की उत्कृष्टता' तथा 'जिह्वा व प्राणापान की पवित्रता' के कारण ही **आसन्** (आस्ये)=इसके मुख में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता का निवास होता है। ५. इस विद्या के कारण सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करने से **पायुः**=इसकी मलशोधक गुदा-इन्द्रिय **चप्पम्**=(चप सान्त्वने) इसको सान्त्वना व शान्ति प्राप्त करानेवाली है। मलशोधन ठीक हो जाने से शरीर व मन में शान्ति व प्रसन्नता का अनुभव होता है। ६. **अस्य**=इसके **बालः**=भिन्न-भिन्न शरीर-अङ्गों में उत्पन्न बाल **भिषक्**=इसके वैद्य होते हैं। ये उसे सर्दी-गर्मी से बचाने में सहायक होते हैं। मलों के चूसने में उपयुक्त होते हैं और इस प्रकार से रोगनिवारण करते हुए इसके वैद्य ही होते हैं। ७. **वस्तिः न शेपः**=मूत्रस्थान और मूत्रेन्द्रिय तो **हरसा**=मलहरण के द्वारा **तरस्वी**=इसको बलसम्पन्न बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—'कुम्भ' अर्थात् अपने अन्दर शक्ति व आनन्द का पूरण करनेवाले के सब अङ्ग सुन्दर होते हैं। मुख और सिर तो उत्कृष्ट होते ही हैं, इसकी जिह्वा व इसके प्राणापान पवित्र होते हैं। इसके मुख में सरस्वती का निवास होता है। इसकी मलशोधक इन्द्रियाँ भी मलशोधन के द्वारा इसे बलवान् बनाती हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रहन-सहन

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां छागेन तेजो हविषा शृतेन।
पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि पेशो न शुक्रमसितं वसाते॥८९॥

१. **ग्रहाभ्याम्**=(गृहीत इति ग्रहौ ताभ्याम्—द०) शुद्ध वायु के द्वारा शरीर में नीरोगता लानेवाले **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ इस कुम्भ (८७) के जीवन में **अमृतम् चक्षुः**=वह ज्ञान होता है, जो इसकी अमरता का कारण बनता है। यह ज्ञान ही इसे विषयों में फँसने से बचाता है, और इसे विषयासक्त हो मरने नहीं देता। २. इस नीरोगता व उत्तम ज्ञान के लिए ही **छागेन**=(छागादिदुग्धेन—द०) बकरी के दूध के सेवन से यह **तेजः**=तेजस्विता को प्राप्त करता है। (छाग का अर्थ बकरी का दूध भी है)। ३. इसी तेजस्विता को वह **शृतेन**=ठीक प्रकार से परिपक्व **हविषा**=दान देकर बचे हुए हव्य पदार्थों के सेवन से प्राप्त करता है। ४. **गोधूमैः**=गेहूँ आदि अन्नों से **पक्ष्माणि**=(पक्ष परिग्रहे) यह बलों व उत्तमताओं

का परिग्रह करता है। ५. **कुवलैः**=(सुशब्दैः—द०, कु शब्दे वल=Well=वर) उत्तम शब्दों के साथ **उतानि**=बुने गये वस्त्रों को यह धारण करता है, अर्थात् केवल सुन्दर कपड़े नहीं पहनता शब्द भी सुन्दर ही बोलता है। गोधूम आदि अन्नों को ही नहीं खाता रहता, उत्तम शक्तियों व गुणों का भी ग्रहण करता है। ६. **न**=और **शुक्रम्**=वीर्य **पेशः**=इसको रूप देनेवाला होता है, अर्थात् शक्ति के कारण यह रोगों का शिकार नहीं होता और परिणामतः इसका शरीर स्वास्थ्य के सौन्दर्य से चमकता है। ७. स्वस्थ बने रहने के लिए ही मन्त्र ८७ के कुम्भ और कुम्भी **असितम्**=(षिञ् बन्धने अबद्धम्=not very tight) न बहुत सटे हुए कपड़े **वसाते**=पहनते हैं। ये कसे हुए कपड़े न पहनकर ढीले ही कपड़े पहनते हैं। कसे हुए कपड़े रुधिराभिसरण अवरोध पैदा करके स्वास्थ्य के लिए विघातक होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि प्राणशक्ति के साथ ज्ञान का भी वर्धन करे। बकरी के दूध तथा ठीक पके हव्य पदार्थों के सेवन से तेजस्वी बनें। अन्न के ग्रहण के साथ गुणों को भी ग्रहण करे। सुन्दर वस्त्रों के साथ शब्द भी सुन्दर बोले। इसकी शक्ति इसे स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त कराये। कपड़े बहुत तंग न पहने।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

परमगति

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्थाऽअमृतो ग्रहाभ्याम्।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥९०॥

१. उत्तम रहन-सहनवाला व्यक्ति **अविः**=(योऽवति रक्षति) शरीर व मानस मलों से अपनी रक्षा करता है। अपने को उन मलों से आक्रान्त नहीं होने देता। २. **न**=और **मेषः**=(मिषति स्पर्धते) उत्तम गुणों के उपार्जन में स्पर्धावाला होता है। ३. इसके **नसि**=नासिका में **प्राणस्य पन्थाः**=प्राण का मार्ग **अमृतः**=कभी नष्ट नहीं होता, अर्थात् यह प्रयत्न करता है कि यह सदा श्वास व प्रश्वास नासिका से ही ले। यह 'नासिका से श्वास लेना' **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु व नीरोगता के ग्रहण से **वीर्याय**=इसको वीर्यसम्पन्न बनाने के लिए हो। इसके जीवन में **उपवाकैः**=आचार्य के समीप बैठकर, (उप) आचार्य से सुने ज्ञान के उच्चारणों से (वाकैः) **सरस्वती**=ज्ञान **जजान**=उत्पन्न होता है ('प्रत्याश्रावः' आचार्य से सुनाये हुए को सुनानेवाला 'अनुरूपः' आचार्य के समान ही ज्ञानी बनता है)। ५. **बदरैः**=(बद स्थैर्ये) स्थिरताओं से **व्यानम् नस्यानि बर्हिः**=व्यानवायु, प्राणापान तथा वासनाशून्य हृदय **जजान** उत्पन्न होता है। (क) इन्द्रियों की स्थिरता से 'व्यान' उत्पन्न होता है। सारे शरीर में व्याप्त होकर सम्पूर्ण नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाली यह व्यानवायु ही है, इसके लिए जितेन्द्रिय बनकर इन्द्रियों की स्थिरता का सम्पादन आवश्यक है अन्यथा नाड़ी-संस्थान के भ्रंश की आशंका बनी रहती है, (ख) मन की स्थिरता नस्यानि=प्राणापान के विकास के लिए आवश्यक है। मनोनिरोध व प्राणनिरोध अत्यन्त सम्बद्ध हैं, (ग) बुद्धि की स्थिरता से वासना-शून्य हृदय का (बर्हिः) विकास होता है एवं, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की स्थिरता में 'व्यान, नस्य व बर्हि' आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अपना रक्षण करें। उत्तमत्ता में स्पर्धावाले हों। सदा नासिका से श्वास लेते हुए शक्ति का वर्धन करें। आचार्य से उक्त का अनुवाद करते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ तथा इन्द्रियों, मन व बुद्धि की स्थिरता से नाड़ी-संस्थान को ठीक रक्खें, प्राणापान का वर्धन करें तथा हृदय को वासनाशून्य बनाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जितेन्द्रिय कौन?

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्यां श्रोत्रमृतं ग्रहाभ्याम्।
यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात्॥९१॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=स्वरूप यह है कि वह **बलाय**=बल के सम्पादन व स्थिरता के लिए **ऋषभः**=(ऋष् गतौ) सदा गतिशील होता है। यह अपने छोटे-छोटे कार्यों के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता, परिणामतः सबल बना रहता है। २. **कर्णाभ्याम्**=कानों से यह सदा **श्रोत्रम्**=ज्ञान की वाणियों का श्रवण करनेवाला होता है। ३. **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु का ग्रहण करनेवाले प्राणापानों से **अमृतम्**=यह अमर बनता है, रोगों से मरियल शरीरवाला नहीं होता। ४. **न**=और **यवाः**=जौ आदि धानों का प्रयोग **बर्हिः**=इसके हृदय को वासनाशून्य बनाता है। 'जैसा अन्न वैसा मन' इस उक्ति के अनुसार सात्त्विक अन्न के प्रयोग से यह सात्त्विक मनवाला होता है। ५. **भ्रुवि**=इसकी भ्रुवों पर (Brows) **केसराणि**=(विज्ञानानि) विज्ञान झलकते हैं, इसकी त्यौरी कभी चढ़ी नहीं होती, अतः इसकी भ्रुवें क्रोध को प्रकट नहीं करतीं। इसकी भ्रुवों से इसके मन का प्रसाद प्रकट होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह **के**=आनन्द में **सर**=विचर रहा है, ज्ञानप्रधान इसका जीवन है। ६. इसके **मुखात्**=मुख से **कर्कन्धु**=(कर्क=fire अग्नि, कर्कं दधाति) अग्नि को धारण करनेवाला, अर्थात् अत्यन्त उत्साहपूर्ण, **सारघम्**=(सारं हन्ति=प्राप्नोति) सारयुक्त तथा **मधु**=अत्यन्त मधुर वचन **जज्ञे**=प्रकट होता है, वह मुख से कभी निराशा के प्रतिपादक वचनों को नहीं बोलता, इसके वचन 'मितं च सारं च' परिमित व सारभूत होते हैं। यह अत्यन्त मधुर वचनों को ही बोलता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष—(क) क्रिया के द्वारा शक्तिशाली होता है, (ख) कानों से सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता है, (ग) प्राणापान के द्वारा शुद्ध वायु के ग्रहण से नीरोग बनता है, (घ) जौ आदि सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से इसका हृदय वासनाशून्य होता है, (ङ) इसका मन इसके मनःप्रसाद को प्रकट करता है और (च) यह उत्साहमय सारभूत मधुर शब्दों को बोलता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उपासक का जीवन 'अस्तेयः, अपरिग्रह-अहिंसा'

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम।
केशा न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि॥९२॥

१. **न**=और **आत्मन् उपस्थे**=उस आत्मा के समीप स्थित होने पर, अर्थात् परमात्मा की उपासना के सिद्ध होने पर **वृकस्य**=(वृक robbery=स्तेय) मन के अन्दर रहनेवाले स्तेय का, चोरी की भावना का, बिना परिश्रम के धन की प्राप्ति की इच्छा का **लोम**=छेदन हो जाता है, प्रभु का उपासक कभी भी स्तेय की ओर नहीं झुकता, यह 'अस्तेय' धर्म का पूर्ण पालन करने का प्रयत्न करता है। २. **न**=और इसके **मुखे**=मुख पर **श्मश्रूणि**=दाढ़ी-मूँछ के बाल प्रकट होकर इसके यौवन में कदम रखने की सूचना देते हैं, परन्तु प्रभु की उपासना से इसमें **व्याघ्रलोम**=(व्याजिघ्रति) समन्तात् विषयों को सूँघने की वृत्ति का छेदन हो जाता है। यह विषयासक्त होकर विषयों के परिग्रह में ही नहीं लगा रहता, अपितु इसके विपरीत

वह 'अपरिग्रह' धर्मवाला होता है। यौवन में भी यह विषयासक्त नहीं होता। ३. **न**=और **शीर्षन्**=मस्तिष्क में **केशाः**=ज्ञान की रश्मियाँ (a ray of light) इसके **यशसे**=यश के लिए होती हैं और **श्रियै**=इसकी श्री के लिए होती हैं। मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञानरश्मियाँ इसके जीवन को यश-सम्पन्न व श्रीसम्पन्न बनाती हैं। ४. **शिखा**=यह ज्ञानाग्नि (ray of light) की ज्वाला इसकी **सिंहस्य**=हिंसावृत्ति का **लोम**=छेदन करनेवाली होती है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण यह अधिक-से-अधिक अहिंसक होता है। ५. **त्विषिः**=इसके चेहरे पर दीप्ति होती है। उपासक स्वास्थ्य व मनःप्रसाद के कारण तेजस्वी प्रतीत होता है। ६. **इन्द्रियाणि**=इसमें प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति अत्यन्त वृद्ध होती है।

भावार्थ—उपासक अस्तेय धर्म का पालन करता है। भरपूर युवावस्था में भी विषयों का परिग्रही नहीं बनता। ज्ञान के कारण यशस्वी व श्रीसम्पन्न कार्यों को ही करता है। इसका ज्ञान इसे अहिंसक बनाता है। यह दीप्त होता है, वीर्यसम्पन्न अङ्गोंवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शतमानम् आयुः 'प्रसाद-प्रकाश-प्रभाव'

अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती।
इन्द्रस्य रूपꣳशतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः॥९३॥

१. उपासक के, जितेन्द्रिय पुरुष के, **अङ्गानि**=अङ्ग **आत्मन्**=सदा आत्मा में होते हैं, अर्थात् यह सब अङ्गों से उन-उन क्रियाओं को करता हुआ परमात्मा को भूलता नहीं। २. **तत् अश्विना**=प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के कारण यह नीरोग बना रहता है। ३. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता, अर्थात् ज्ञानी बनकर यह **अङ्गैः**=योगाङ्गों के द्वारा **आत्मानम्**=उस परमात्मा को **समधात्**=सम्यक् धारण करता है, स्वाध्याय करता है और इस स्वाध्यायरूप क्रियायोग से यह अपने को परमात्मा से जोड़ने का प्रयत्न करता है। ४. **इन्द्रस्य**=इस प्रकार इस जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=रूप यह होता है कि यह (क) **शतमानम् आयुः**=सौ वर्ष से मपी आयु को प्राप्त करता है। (ख) **चन्द्रेण ज्योतिः**=मानस आह्लाद के साथ ज्ञान की ज्योतिवाला होता है और (ग) ये उपासक **अमृतं दधानाः**=विषयों के पीछे न मरने की वृत्ति को तथा नीरोगता व अमरता को धारण करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपने अङ्गों को आत्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करता है, प्राणापान-शक्ति की वृद्धि से नीरोग होता है, ज्ञान व योगाङ्गों से प्रभु से मेल करता है, सौ वर्ष तक जीता है, प्रसन्न रहता है, ज्योतिर्मय व विषयों के पीछे न मरनेवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

कर्मों में रस व उसका लाभ

सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति।
अपाꣳरसेन वरुणो न साम्नेन्द्रꣳश्रियै जनयन्नप्सु राजा॥९४॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान को प्राप्त विदुषी स्त्री घर के सब कार्यों को करती हुई **योन्याम्**=सृष्टि के मूलकारण परमात्मा के **अन्तः गर्भम्**=अन्दर गर्भरूप में रहती है। जैसे एक बालक माता में गर्भरूप से रहता हुआ सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह परमात्मा में निवास करती हुई वासनाओं से अपने को बचा पाती है। २. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के हेतु से, अर्थात् घर के सब सभ्यों की प्राणापानशक्ति की वृद्धि के लिए यह **पत्नी**=गृहपत्नी **सुकृतम्**=उत्तमता

से संस्कृत किये हुए अन्न का **बिभर्ति**=भरण करती है। सबको उत्तम पथ्य भोजन देकर सबके स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखती है। ३. **न**=और **अपां रसेन**=कर्मों के अन्दर रस को अनुभव करने से **वरुणः**=घर का प्रत्येक व्यक्ति दोष का निवारण करनेवाला बनता है। खाली बैठे आलसी व्यक्तियों को ही ईर्ष्या-द्वेष की बातें सूझती हैं। ४. कर्म में लगे रहने से यह ईर्ष्या-द्वेष में नहीं फँसता और **साम्ना**=शान्ति से अथवा उपासना से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **श्रियै**=अपने में 'श्री' की वृद्धि के लिए **जनयन्**=आविर्भूत करता है। प्रभु के ध्यान के द्वारा अन्तःस्थित प्रभु के दर्शन करता है, यह प्रभुदर्शन इसकी शोभा को बढ़ाता है। ५. और यह प्रभु के तेज के अंश से चमकता हुआ व्यक्ति **अप्सु राजा**=(क) अपने कर्मों में बड़ा व्यवस्थित (regular) होता है। (ख) अथवा अपने कर्मों से चमक उठता है (राज्=दीप्ति)। इसके कर्म सामान्य व्यक्तियों के कर्मों की अपेक्षया असाधारणता लिये हुए होते हैं, इसीलिए वह (ग) **अप्सु**=प्रजाओं में **राजा**=राजा बन जाता है।

भावार्थ—१. गृहिणी को चाहिए कि गृहकार्यों को करती हुई प्रभु में निवास करे। २. सब गृहसभ्यों के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न को सिद्ध करके प्राप्त कराए। ३. कर्मों में लगे रहने से ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर रहे। ४. शान्ति व उपासना से प्रभु के तेजोंऽश को अपने में धारण करे। ५. व्यवस्थित कर्मों से चमक उठे और प्रजाओं में राजा बनने के योग्य हो।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अमृत-सोम-इन्दु

तेजः पशूनाꣳहविरिन्द्रियावत् परिस्रुता पयसा सारघं मधु।
अश्विभ्यां दुग्धं भिषजा सरस्वत्या सुतासुताभ्यामृतः सोमऽइन्दुः॥९५॥

१. **पशूनाम्**=पशुओं के **तेजः**=तेजस्विता के कारणभूत दूध को मैं ग्रहण करूँ। वेद में अन्यत्र 'पयः पशूनाम्' ही पाठ है, अतः यहाँ **तेजः** व **पयः** में कार्यकारणभाव होने से पयः के स्थान में तेजः का प्रयोग किया गया है। २. **हविः**=दानपूर्वक किया हुआ सात्त्विक भोजन, यज्ञशेषरूप पथ्य, **इन्द्रियावत्**=हमारे बल को (इन्द्रियं वीर्यम्) बढ़ानेवाला हो। ३. **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न के साथ तथा **पयसा**=दूध के साथ **सारघं मधु**=मैं मधुमक्षिकाओं से निर्मित शहद का ग्रहण करूँ। ४. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की शक्ति के लिए **दुग्धम्**=मैं दुग्ध (दूध) को स्वीकार करूँ। ५. इस प्राणापानरूप **भिषजा**=वैद्यों से **अमृतः**=मैं अमृत बनूँ, कभी रोगों का शिकार न होऊँ। ६. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से, अर्थात् अत्युत्तम ज्ञान से मैं **सोमः**=सौम्य बनूँ। ज्ञान का परिणाम तो है ही 'विनय'। यदि मैं विनीत न रहकर अभिमानी हो जाऊँगा तो मेरा सारा उत्थान समाप्त हो जाएगा। ७. **सुतासुताभ्याम्**=सुत व असुतों के द्वारा बड़े परिश्रम से भूमि में पैदा किये गये—उत्तम सात्त्विक अन्नों के द्वारा (परिसुता) तथा असुत, अर्थात् गौ आदि के दूध के द्वारा यह **इन्दुः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला बनता है अथवा शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—पशुओं का दूध, यज्ञशेष अन्न व शहद के प्रयोग से मैं अमर=नीरोग बनूँ। बुद्धि की तीव्रता से ज्ञानी बनकर (विनीत बनूँ)। ठीक अन्नों का प्रयोग मुझे शक्तिशाली बनाये। यह 'अमृत-सोम-इन्दु' ही राजा बनने के योग्य हैं। इस राजा के वर्णन से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है।

॥ इत्येकोनविंशोऽध्यायः॥